गल्प-समुच्चय

प्रेमचन्द

गल्प-समुच्चय

हिन्दी के

विशिष्ट गल्पकारों की सर्वोत्तम गल्पों का संग्रह

संग्रहकर्त्ता और सम्पादक

भारत-विख्यात उपन्यास-सम्राट

श्रीप्रेमचन्द्जी

प्रकाशक

सरस्वती-प्रेस, बनारस सिटी

द्वितीय	मूल्य	सन्
संस्करण	२॥)	१९३१

मुद्रक
श्रीप्रवासीलाल वर्मा
सरस्वती-प्रेस
काशी

भूमिका

आधुनिक गल्प-लेखन-कला हिन्दी में अभी बाल्यावस्था में है; इसलिये इससे पाश्चात्य के प्रौढ़ गल्पों की तुलना करना अन्याय होगा। फिर भी इस थोड़े-से काल में हिन्दी-गल्प-कला ने जो उन्नति की है, उसपर वह गर्व करे, तो अनुचित नहीं। हिन्दी में अभी टालस्टाय, चेकाफ़, पो, डाडे, मोपासाँ का आविर्भाव नहीं हुआ है; पर बिरवा के चिकने पात देखकर कहा जा सकता है, कि यह होनहार है। इस संग्रह में हमने चेष्टा की है, कि हिन्दी के सर्वमान्य गल्पकारों की रचनाओं की बानगी दे दी जाय। हम कहाँ तक सफल हुए हैं, इसका निर्णय पाठक और समालोचक-गण ही कर सकते हैं। हमें खेद है, कि इच्छा रहते हुए भी हम अन्य लेखकों की रचनाओं के लिये स्थान न निकाल सके; पर इतना हम कह सकते हैं कि हमने जो सामग्री उपस्थित की है वह हिन्दी-गल्प-

कला की वर्त्तमान परिस्थिति का परिचय देने के लिये काफ़ी है। इसके साथ ही हमने मनोरंजकता और शिक्षा का भी ध्यान रखा है, हमें विश्वास है, कि पाठक इस दृष्टि से भी इस संग्रह में कोई अभाव न पावेंगे।

गल्प-लेखन-कला की विपद् रूप से व्याख्या करना हमारा तात्पर्य नहीं। संक्षिप्त रूप से गल्प एक कविता है, जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य होता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास, सब उसी एक भाव का पुष्टि-करण करते हैं। उपन्यास की भाँति उसमें मानव-जीवन का सम्पूर्ण तथा वृहद् रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता, न उपन्यास की भाँति उसमें सभी रसों का सम्मिश्रण होता है। वह रमणीक उद्यान नहीं, जिसमें भाँति-भाँति के फूल, बेल-बूटे सजे हुए हैं, वरन् एक गमला है, जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।

हम उन लेखक महोदयों के कृतज्ञ हैं, जिन्होंने उदारता-पूर्वक हमें अपनी रचनाओं के उद्धृत करने की अनुमति प्रदान की। हम सम्पादक महानुभावों के भी ऋणी हैं जिनकी बहुमूल्य पत्रिकाओं में से हमने कई गल्पें ली हैं।

—प्रेमचन्द

अनुक्रमणिका

गल्प-समुच्चय

सरस्वती-प्रेस से प्रकाशित पुस्तकें

अतवार	...	॥)
सुघड़-बेटी	...	॥)
सुशीला-कुमारी	...	॥)
मुरली-माधुरी	...	।=)
गल्प-समुच्चय	...	२॥)
प्रेम-तीर्थ	...	१॥)
प्रतिज्ञा	...	१)
ग़बन	...	३)
वृत्तविज्ञान	...	१॥)
ज्वालामुखी	...	॥।)
पाँच फूल	...	॥।)
प्रेम द्वादशी	...	॥।)
गल्प रत्न	...	१)
रस-रंग	...	॥।)

१—पं० ज्वालादत्त शर्मा

आप मुरादाबाद के निवासी हैं। संस्कृत, फ़ारसी और उर्दू के अच्छे ज्ञाता हैं। आपने उर्दू के कई सुविख्यात कवियों पर आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी हैं। आप की वर्णन-शैली और भाषा सरस है।

(१) अनाथ-बालिका

---

(१)

ण्डित राजनाथ, एम० डी० का व्यवसाय साधारण नहीं है। शहर के छोटे-बड़े—अमीर-ग़रीब सभी उनको अपनी बीमारी में बुलाते हैं। इसके कई कारण हैं। एक तो आप साधु पुरुष हैं; दूसरे बड़े स्पष्ट वक्ता हैं; तीसरे सदाचार की मूर्त्ति हैं। चालीस वर्ष की अवस्था हो जाने पर भी आपने अपना विवाह नहीं किया। ईश्वर की कृपा से आपके पास रुपये और मान की कमी नहीं। अतुल धन और अमित सम्मान के अधिकारी होने पर भी आप बड़े जितेन्द्रिय, निरभिमान और सदाचारी हैं। गोरखपुर में आपको डाक्टरी शुरू किये सिर्फ़ सात ही वर्ष हुए हैं; पर शहर के छोटे-बड़े सबकी ज़बान पर राजा-बाबू का नाम इस तरह चढ़ गया है; मानों वे जन्म से ही वहाँ के निवासी हैं। आपका क़द ऊँचा, शरीर छरेरा और चेहरा कान्ति-पूर्ण गोरा है। मरीज़ से बात-चीत करते ही उसकी तकलीफ़ आप कम कर देते हैं। इस कारण साधारण लोग आपको जादूगर तक समझते

हैं। आपके परिवार में सिर्फ वृद्धा माता हैं। एक भानजे का भरण-पोषण भी आप ही करते हैं। भानजा सतीश कालेज में पढ़ता है।

डाक्टर राजा-बाबू ने अनेक मरीजों से फ़ारिग होकर आज का दैनिक उठाया ही था कि उनके सामने एक ११-१२ वर्ष की निरीह बालिका, आँखों में आँसू भरे हुए, आ खड़ी हुई। डाक्टर साहब समझ गये कि इस बालिका पर कोई भारी विपत्ति आई है। उन्होंने दैनिक को मेज़ पर रखकर बड़े स्नेह के साथ उससे पूछा—

"बेटी, क्यों रोती हो?"

"डाक्टर साहब कहाँ हैं, मैं उनके पास आई हूँ। मेरी माँ का बुरा हाल है।"

"मैं ही डाक्टर हूँ। तुम्हारी माँ को क्या शिकायत है?"

"डाक्टर साहब, मेरी माँ को बड़े ज़ोर का बुखार चढ़ा है। तीन दिन से वह बेहोश थी। आज कुछ होश हुआ है, तो आपको बुलाने के लिये भेजा है। हमारा घर बहुत दूर नहीं है। आप चलकर देख लीजिये।"

"मैं अभी चलता हूँ। तुम घबराओ मत। ईश्वर तुम्हारी माँ को निरोग कर देगा।"

डाक्टर साहब अपना हैंड-बेग उठाकर लड़की के साथ पैदल ही चल दिये। लड़की के मना करने पर भी उन्होंने नहीं माना और कहा—तुम्हारा मकान बहुत क़रीब है। मैं भी प्रातःकाल

से गाड़ी में बैठे-बैठे थक-सा गया हूँ; इसलिये थोड़ी दूर पैदल चलने को तबीयत चाहती है।

डाक्टर साहब पेचदार गलियों से निकलते हुए एक बहुत छोटे मकान में दाखिल हुए। मकान की अवस्था देखते ही डाक्टर साहब ने समझ लिया कि इसमें रहने वालों पर चिरकाल से लक्ष्मीजी का कोप मालूम होता है। उन्होंने मकान के भीतर जाकर देखा कि एक छप्पर के नीचे चारपाई पर लड़की की माँ लिहाफ़ ओढ़े लेटी हुई है। आँगन में नीम का एक पेड़ है। उसके पत्तों से आँगन भर रहा है। मालूम होता है कि कई दिनों से घर में झाड़ू तक नहीं लगाई गई। लडकी ने अपनी माँ की चारपाई के पास पहले से ही एक मूँढ़ा बिछा रखा था; क्योंकि उसने अपनी माँ से सुना था कि कोई भी ग़रीब आदमी डाक्टर साहब के घर से निराश नहीं लौटाया जाता। डाक्टर साहब मूँढ़े पर बैठ गये। लड़की ने माँ के कान में ज़ोर से आवाज दी कि डाक्टर साहब आ गये। माँ ने मुँह पर से लिहाफ़ उठाया। यद्यपि बीमारी की तकलीफ़ के कारण उसके चेहरे पर उदासी छाई थी, तथापि उस उदासी के अन्दर से भी डाक्टर साहब ने उसके हृदय की पवित्रता और मानसिक दृढ़ता की निर्म्मल किरणों को छनते हुए देखा। उन्होंने यह भी जान लिया कि भगवान् अदृष्ट के कोप से यद्यपि यह रोगिणी इस छोटे से मकान में टूटे-फूटे सामान के साथ रहने को विवश कर दी गई है; किन्तु एक दिन यह ज़रूर अच्छे घर और बड़े सामान के

साथ किसी सुयोग्य पति के हृदय की अधिकारिणी रही होगी। रोगिणी की अवस्था ४० वर्ष के ऊपर थी। रोग और ग़रीबी ने मिलकर उसके मुख-कमल को मलिन करने में कोई कसर न छोड़ी थी; परन्तु उसके चेहरे पर जिस स्वर्गीय शान्ति का आधिपत्य था, उसे विपत्ति नहीं हटा सकी थी। रोगिणी के शान्ति-पूर्ण चेहरे को देखते ही डाक्टर के हृदय में उसके विषय में बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हो गई। उन्होंने अपने स्वभाव-सिद्ध मीठे स्वर से पूछा—

"माँजी, आपको क्या तकलीफ है? धीरे-धीरे अपनी तबीयत का हाल कह सुनाइए।"

रोगिणी ने कराहते हुए कहा—

"राजा-बाबू तुम दीनबन्धु हो; इसलिए ईश्वर-वत् पूज्य हो। मैं आपसे लज्जा छोड़ कर कुछ कहना चाहती हूँ। आशा है, इसके लिए तुम मुझको क्षमा करोगे। संसार में मैंने किसी का एहसान नहीं उठाया; पर मरते समय तुम्हारे एहसान के नीचे मुझे दबना पड़ा। इसलिए ईश्वर तुम्हारा..............." यह कहते-कहते रोगिणी के नेत्रों में आँसू भर आये।

राजा-बाबू ने बड़ी नम्रता से कहा—

"माँजी, आप तबीयत को भारी न कीजिए। मैं आपकी सेवा के लिए तैयार हूँ। आप निस्सङ्कोच आज्ञा कीजिये; पर पहले रोग का हाल तो कहिए।"

"डाक्टर साहब, रोग का हाल कुछ नहीं। समय पूरा हो

गया है। अब मैं आपसे जो कुछ कहना चाहती हूँ, उसे सुन लीजिए। सरला—जो आपके पीछे खड़ी हुई है—मेरी एक-मात्र कन्या है। यह अब अनाथ होती है। इसको मैं आपके सिपुर्द करती हूँ। इसका विवाह मैं न कर सकी; इसीलिए मुझे आपसे इतनी बड़ी भिक्षा माँगनी पड़ी। यह घर के काम-काज में होशियार है। जो कुछ मैं जानती थी और बता सकती थी, उसकी शिक्षा मैंने इसको दे दी है। यह आपकी सेवा करेगी। मुझे पूर्ण आशा है कि यह आपको प्रसन्न रक्खेगी। समय आने पर आप इसका किसी पढ़े-लिखे ब्राह्मण-वर के साथ विवाह कर दें। बस मेरी यही प्रार्थना है। और, हाँ, यह एक पैकट है, जिसमें दो लिफाफे हैं। इनको आप मेरी मृत्यु के एक वर्ष बाद जब चाहें पढ़ें। उनमें मेरा परिचय है—जिसको बताने की और आपको जानने की इस समम जरूरत नहीं। दूसरों का उपकार करने वाले सदा सङ्कट में ही रहते हैं। आप भी परोपकार-रत हैं; इसलिए आपको भी बे-वास्ते इन संकटों में पड़ना पड़ा।"

इस प्रकार कहते-कहते उसका गला भर आया।

राजा-बाबू ने उत्तर दिया—

"माँजी, मैं आपकी आज्ञा को सहर्ष स्वीकार करता हूँ। मैं आपकी कन्या को सन्तान-वत् रक्खूँगा। मेरे घर में कोई बालक नहीं। माताजी सरला को पाकर यथार्थ में बहुत प्रसन्न होंगी। समय आने पर मैं इसका विवाह भी कर दूँगा; पर आप इतना निराश क्यों होती हैं। मुझे आशा है, आप अच्छी हो जायँगी।"

इसके बाद डाक्टर साहब ने रोगिणी की नब्ज़ आदि देखी। देखने से डाक्टर साहब को मालूम होगया कि रोगिणी का रोग-विषयक बयान बहुत कुछ ठीक है।

उसी दिन शाम को रोगिणी इस संसार से चल बसी।

(२)

विस्मृति भी बड़े काम की चीज़ है। यह न होती, तो मनुष्य का जीवन बहुत बुरा हो जाता। जन्म से लेकर आज तक हमको जिन-जिन दुःखों, क्लेशों और सङ्कटों का सामना करना पड़ा है, वे सब-के-सब यदि हर समय हमारी आँखों के सामने खड़े रहते, तो हमारा जीवन भयानक हो जाता। अकेली विस्मृति ही उनसे हमारी रक्षा करती है।

सरला ने मातृ-वियोग को सह लिया। माता की याद धीरे-धीरे विस्मृति के गर्भ में छिपने लगी। अब उसकी जीवन-पुस्तक का एक नया, पर चमचमाता हुआ, पृष्ठ खुला। छोटे-से झोंपड़े से निकलकर अब उसने महल को मात करनेवाले डाक्टर राजा-बाबू के मकान में प्रवेश किया। माता की छत्रच्छाया उठ गई, डाक्टर की वृद्धा माता की गोद का आश्रय मिला; पर उसमें भी उसने वही स्नेह-रस-परिप्लुत अभय दान पाया।

सरला ने पहले तो कुछ सङ्कोच अनुभव किया; पर अन्न-पूर्णा की ममता-पूर्ण और डाक्टर साहब की स्नेह-भरी बातों ने उसको बता दिया कि वह मानों अपने ही घर में है। डाक्टर साहब ने सरला की शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध कर दिया।

सरला भी डाक्टर साहब को यथा-शक्य सेवा करने लगी। पर नौकरों की तरह नहीं, घर के बच्चे की तरह। वह डाक्टर साहब को अपने हाथ से भोजन कराती। अन्नपूर्णाजी यद्यपि अपने देवोपम पुत्र के लिए स्वयं ही भोजन तैयार करतीं; पर सरला फिर भी उनको कुछ कम सहायता न देती। सरला को धीरे-धीरे पाक-शास्त्र की शिक्षा मिलने लगी। वृद्धा अन्नपूर्णा के निरीक्षण में निरामिषभोजी डाक्टर साहब के लिए विविध प्रकार के शाक, खीर, हलुआ आदि अनेक सु-स्वादु और पौष्टिक पदार्थ वह बनाने लगी। प्रातःकाल होते ही, अन्नपूर्णा की पूजा का सामान भी वह ठीक कर देती। घर के बगीचे से फूल लाकर सजा देती और चन्दन आदि सामग्री यथा-स्थान रख देती। अपनी सेवा और सु-स्वभाव से—मतलब यह कि—सरला ने डाक्टर साहब और उनकी वृद्धा माता के हृदय में सन्तान से बढ़-कर स्नेह पैदा कर लिया।

बड़े दिन की छुट्टियों में सतीश घर आया। उसने देखा कि घर में एक देवी-स्वरूपिणी कन्या रहती है। उसके आलोक से उसने मानों सारा मकान आलोकित पाया। मामा से पूछने पर उसको मालूम हुआ कि वह भी उनकी एक आत्मीया है और कुछ दिनों तक उनके यहाँ रहने के लिए चली आई है। दो-चार दिन तक सतीश को उसके साथ बात-चीत करने में संकोच-सा मालूम हुआ। उधर सलज्जा सरला भी एक नये आदमी के साथ बात-चीत करने में झिझकती रही; पर कुछ ही दिनों में दोनों की

तबीअतें खुल गईं। फिर तो वे आपस में खूब आलाप करने लगे। सतीश ने सरला से कभी उसका परिचय न पूछा; क्योंकि वह मामाजी की बात को वेद भागवान् की बात समझता था। न सरला ने ही अपना प्रकृत परिचय देने की आवश्यकता समझी। इसमें सन्देह नहीं कि सरला की योग्यता, गृहकार्य्य-कुशलता और उसके पवित्रता-पूर्ण आचरण पर सतीश मन से मुग्ध हो गया। सरला भी सतीश के कामों का बड़ा ध्यान रखती। सतीश प्रायः देखता कि उसके कपड़े तह किये हुए यथा-स्थान रक्खे हैं, वह अपने पढ़ने की पुस्तकें भी—जिनको वह इधर-उधर बिखरी और खुली हुई छोड़ गया था—बन्द की हुई और चुनी हुई पाता। छुट्टियों के अत्यल्प काल में ही सरला ने उसके हृदय में स्थान कर लिया। उसको न-मालूम क्यों हर समय सरला का ध्यान रहने लगा। वह अपने मन से भी इसका कारण कई दफे पूछकर कुछ उत्तर न पा सका था। परन्तु वह जाने या न जाने—और जानने की जरूरत भी नहीं—प्रेमदेव की पवित्र किरणों से उसका हृदयाकाश अवश्य ही आलोकित रहने लगा। वह कभी सरला को पढ़ाता—बीसियों नई-नई बातें बताता—और कभी घण्टों खाली इधर-उधर की बातें ही करता। मतलब यह कि इन दोनों की मैत्री दिन-पर-दिन मज़बूत होने लगी। छुट्टियाँ समाप्त होने पर जब सतीश कालेज को जाने लगा, तब उसे मकान छोड़ने में बड़ा मीठा दर्द-रूप मोह मालूम हुआ; पर वह तत्काल सँभल गया और हमेशा की तरह

मामाजी और वृद्धा के चरण छूकर सरला से आँखों-ही-आँखों उसने बिदा ली।

(३)

सतीश सेन्ट्रल हिन्दू-कालेज में पढ़ता है। इस वर्ष वह एम० ए० की अन्तिम परीक्षा देगा। सती बड़ा धार्मिक है। वैसे तो हर लड़के को, जो हिन्दू-कालेज के बोर्डिङ्ग-हाउस में रहता है, स्नान-ध्याय और धार्मिक कृत्य सम्पादन करने पड़ते हैं; किन्तु सतीश ने अपनी बाल्यावस्था के कुल वर्ष अपने मामा डाक्टर राजा-बाबू के साथ काटे हैं। इसलिए, नित्य प्रातःकाल उठना, सन्ध्योपासन करना और परोपकार के लिए दत्त-चित्त रहना उसका स्वभाव-सा हो गया है। सतीश छः वर्ष से इसी कालेज में पढ़ रहा है और हर वर्ष परीक्षा में बड़ी नामवरी के साथ पास हो रहा है। सतीश अपने दैवी गुणों के लिए सब लड़कों में प्रसिद्ध है। हर एक लड़का, किसी-न-किसी रूप में, उसकी कृपा का पात्र बना है। अनेक कमज़ोर (शरीर में नहीं पढ़ाई में) लड़कों ने उससे पढ़ा है; अनेक गरीब विद्यार्थियों की उसने आर्थिक सहायता की है। किसी लड़के के रोग-ग्रस्त होने पर सहोदरवत् उसने उसकी शुश्रूषा भी की है। इसलिए, कालेज का हर लड़का उसको बड़ी पूज्य-दृष्टि से देखता है। सतीश के पास वाले कमरे में रामसुन्दर-नामक एक लड़का रहता है। वह दो वर्ष से इस कालेज में पढ़ता है। पर, है सतीश का सहाध्यायी ही। यह लड़का घर का मालदार होते हुए भी विद्या का

बड़ा प्रेमी है। इसके पिता का हाल में स्वर्गवास हो गया है और यह बहुत बड़ी सम्पत्ति का मालिक हुआ है। पर, फिर भी, इसने पढ़ना नहीं छोड़ा। सतीश के साथ इसकी बड़ी घनिष्ठता है। सतीश और रामसुन्दर की प्रकृति अनेक अंशों में एक-सी है। इसीलिये इन दोनों में खूब मित्रता है। सतीश और रामसुन्द छुट्टी के समय प्रायः एक ही साथ रहते हैं।

सतीश और रामसुन्दर एक नाव पर बैठे हुए हैं। नाव पुण्यतोया भागीरथी में धीरे-धीरे बह रही है। ग्रीष्म-ऋतु की सन्ध्या है। बड़ा लुभावना दृश्य है। तारों का बिम्ब गङ्गाजल में पड़कर अजीब बहार दिखा रहा है। सच तो यह है कि इस "शाम" के सामने "शामे लखनऊ" कुछ भी चीज नहीं। नाव-वाला बड़े मीठे स्वर में कोई गीत गा रहा है। उसकी आवाज गङ्गा के तट के अट्टालिका-सम ऊँचे स्थानों से टकराकर मानों कई गुनी होकर वापिस आ रही है। ये दोनों मित्र आपस में खूब घुल-घुलकर बातें कर रहे हैं। अन्त में सतीश ने कहा—

"मित्र, तुम्हारा हृदय बहुत विशाल है। इस बात को मैं स्वीकार करता हूँ। जहाँ तक मेरी शक्ति है, मैं तुमको इस पुण्य-कार्य्य में सहायता दूँगा। तीन मास बाद कालेज बन्द होगा। उस समय तीन मास से अधिक का अवकाश मिलेगा। उसमें मैं तुम्हारे साथ रहूँगा। जहाँ तुम चलोगे मैं चलूँगा। जहाँ तक पता चलेगा, मैं तुम्हारे मनोरथ के साफल्य के लिये प्रयत्न करूँगा। इस समय इस काम को ईश्वर के ऊपर छोड़ो।

परीक्षा के दिन बहुत कम रह गये हैं। इसलिए सब ओर से मन हटाकर इसी ओर लगाना चाहिए। परीक्षा से निवृत्त होकर अपनी सब शक्तियाँ उधर लगावेंगे। मैं तुम्हारा साथ दूँगा।"

रामसुन्दर—भाई सतीश, मुझे तुम्हारा बहुत भरोसा है। पूर्ण आशा है कि यदि तुम-जैसे परोपकार-व्रती और देवोपम मित्र ने प्रयत्न किया, तो मेरा यह कार्य्य—जिसके कारण मेरी निद्रा और मेरी, भूख, दोनों नष्ट हो गई हैं—जरूर सिद्ध हो जायगा। मित्र, तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है—

'यद्यपि जग दारुण दुख नाना।
सबतें कठिन जाति-अपमाना।'

नाव धीरे-धीरे किनारे पर आ लगी और ये दोनों नवयुवक उससे उतर कर कालेज की ओर चल दिये।

(४)

सरला को माता को मरे दो वर्ष बीत गये। सरला निश्चिन्तता-पूर्वक डाक्टर-बाबू के यहाँ रहती है। उसको अपनी माता की याद आती है जरूर; पर डाक्टर और उसकी वृद्धा माता के सद्व्यवहार से उसको कोई कष्ट नहीं। बल्कि, यह कहना चाहिए कि कोई ऐसा सुख नहीं, जो उसको प्राप्त न हो। राजा-बाबू उसको अपनी ही पुत्री समझते हैं। उसने भी अपने गुणों से उसको खूब प्रसन्न कर रक्खा है।

राजा-बाबू ने दो वर्ष बाद उस लिफ़ाफे को खोला, जिसको पढ़ने की आज्ञा सरला की माता, मरते समय दे गई थी।

उसमें दो लिफ़ाफे थे। जिस पर नम्बर एक पड़ा था, उसको खोल-कर डाक्टर साहब पढ़ने लगे। उसमें लिखा था—

"आप मेरे परम हितैषी हैं। जो ऐसा न होता, तो यह लिफ़ाफ़ा आप न पढ़ते। अब तक यह कब का अग्निदेव के सिपुर्द हो चुका होता। आप मेरी कन्या के संरक्षक हैं। इस कारण मैं आपसे नीचे लिखा वृत्तान्त कहती हूँ! सुनिये—

"मेरे पति दो भाई थे। पति की मृत्यु के बाद मेरे जेठ ने मुझसे अच्छा व्यवहार न किया। उन्होंने एक दिन क्रोध-वश मुझे मकान से निकल जाने तक की आज्ञा दे दी। मेरे पति ने मरते समय बिना विचार किये ही, अपने भाई की आज्ञा का पालन करने का आदेश मुझे दिया था; इसलिए स्वर्ग-गत पतिदेव की आज्ञा का स्मरण करके मुझे अपने जेठ की अत्यन्त अनुचित और अकारण दी हुई आज्ञा को शिरोधार्य्य करना पड़ा। मैं अपनी एक मात्र कन्या को लेकर घर से निकल चली। ओफ़! कैसी भीषण रात्रि थी। उस समय के दुःख का हाल किसी भले और सम्मान्य घर की स्त्री के मन से ही पूछना चाहिये। मेरे शरीर पर कुछ आभूषण थे। उन्हीं के सहारे मैं कई सौ मील की यात्रा करके यहाँ आई और एक साधारण-सा मकान लेकर रहने लगी। मैंने जीवन-भर प्रतिष्ठा के साथ अपना और अपनी प्यारी बेटी का पेट पाला। मैंने 'आन को रक्खा जान गँवा कर' बस मेरा यही रहस्य है। अब यदि आप मेरा पूरा परिचय प्राप्त करना चाहें, तो दूसरे लिफ़ाफे को खोलिए। उसमें आपको मेरे जेठ का लिखा हुआ

एक रजिस्टर्ड इक़रारनामा मिलेगा। उसमें उन्होंने मेरे पति की सम्पत्ति को मेरी सम्पत्ति से अलग, अर्थात् विभक्त बताया है। उसमें मेरे पतिदेव का पूरा पता भी प्रसङ्गवश आ गया है। उसको आप साधारण काग़ज़ न समझिये। उसके द्वारा मेरी एकमात्र कन्या सरला—ईश्वर उसे सानन्द रक्खे—एक दिन लाख रुपये से अधिक मूल्यवाली सम्पत्ति की अधिकारिणी बन सकती है; पर मैं नहीं चाहती कि उसका प्रयोग किया जाय। मुझे पूर्ण आशा है कि मेरी सरला अपने गुणों के कारण ही बहुत बड़ी सम्पत्ति की अधिकारिणी होगी।

अन्त में, मैं आपको हृदय से आशीर्वाद देती हूँ कि ईश्वर आपका भला करें; क्योंकि आपने मेरा और मेरी कन्या का भला किया है।"

डाक्टर राजनाथ को पत्र पढ़कर बड़ा आश्चर्य्य हुआ। वे बहुत देर तक ईश्वरीय माया और मरनेवाली सती की दृढ़ प्रतिज्ञा पर विचार करते रहे। उन्होंने दूसरा लिफ़ाफ़ा बिना पढ़े ही अपने बाक्स में बन्द कर दिया।

(५)

जब डाक्टर राजनाथ ने सतीश के पत्र में यह पढ़ा कि वह परीक्षा देकर मकान पर न आवेगा, तब उनको बड़ी चिन्ता हुई। उसका विचार कुछ दिनों इधर-उधर घूमने का है। और खर्च के लिये पाँच सौ रुपये उससे माँगे हैं। राजनाथ ने पाँच सौ रुपये का नोट नीचे लिखी चिट्ठी के साथ उसके पास भेज दिया—

"प्रिय सतीश,

मुझे बड़ा विस्मय है कि तुम किधर जा रहे हो और क्यों? माताजी तुमको देखने के लिए बड़ी व्यग्र हैं; पर, मुझे भरोसा है कि तुम किसी अच्छे उद्देश्य से ही जा रहे हो। खर्च भेजता हूँ। यथा साध्य शीघ्र लौटना।

शुभानुध्यायी—

राजनाथ।"

पाँचवें-छठे दिन इसका उत्तर आ गया। उसमें लिखा था—

"पूज्य मामाजी, प्रणाम।

कृपापत्र और ५००) का नोट मिला। मेरे मित्र परिडत रामसुन्दर को आप जानते ही हैं। उनका एक बहुत ही आवश्यक कार्य्य है, जिसमें वे मेरी सहायता चाहते हैं। उस कार्य्य के लिए इधर-उधर घूमना पड़ेगा। मैं आपको पहले पत्र में ही वह कार्य्य बता देता, जिसके लिए यह तैयारी है; पर उसको गुप्त रखने के लिए उन्हों ने ताकीद कर दी है। अब आप यदि आज्ञा दें, तो मैं उनके साथ चला जाऊँ। आपके उत्तर की मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

सेवक—

सतीश।"

पत्र को पढ़कर राजा-बाबू कुछ देर तक सोचते रहे। फिर उन्होंने नीचे लिखा हुआ प्रत्युत्तर अपने भानजे को भेजा—

"प्रिय सतीश,

मैं बड़ी प्रसन्नता से तुमको अपने मित्र के कार्य्य में सहायता देने की आज्ञा देता हूँ। ख़र्च के लिए जिस क़दर रुपये की और ज़रूरत हो, निस्सङ्कोच मँगा लेना। यात्रा से लौटते समय अपने मित्र को भी एक दिन के लिए इधर लाना। उनको बहुत दिनों से मैंने नहीं देखा। देखने को तबीअत चाहती है। आशा है, वे मेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगे।

शुभैषी—

राजनाथ।"

राजा-बाबू ने पत्र समाप्त ही किया था कि सरला ने चाँदी की तश्तरी में कुछ तराशे हुए फल उनके सामने रख दिये। राजा-बाबू फल खाते-खाते सरला से इधर-उधर की बातें करने लगे।

(६)

गरमी की बड़ी छुट्टियों के ८-१० दिन ही बाक़ी हैं। सतीश ने अब की बार छुट्टी के तीनों महीने बाहर ही काटे। कल उसकी चिट्ठी आई कि वह आज रात को रामसुन्दर-सहित मकान पहुँचेगा। उसका कमरा साफ किया गया है। वृद्धा माता भी आज बड़ी खुशी से भोजन बना रही हैं। सरला के मन की आज अद्‌भुत दशा है। कभी तो वह हर्ष के मारे उछलने लगता है और कभी किसी अज्ञात कारण से उसकी गति और भो कम पड़ जाती है। उसका मुख-सरोज घड़ी-घड़ी पर इन भावों के अस्तोदय के साथ खिलता और मुरझाता है। उसने यह भी सुना है

कि सतीश के साथ उसके मित्र भी आवेंगे, जिनके काम में उसने अपनी सारी छुट्टियाँ ख़र्च की हैं। सरला मन-ही-मन सतीश के मित्र पर नाराज़ भी है; क्योंकि उसके कारण ही सतीश की छुट्टियों से वह फ़ायदा नहीं उठा सकी।

सतीश रात के ९ बजे की ट्रेन से मकान पहुँच गया। राजा-बाबू उसकी प्रतीक्षा कर ही रहे थे। उन्होंने बड़े प्रेम से रामसुन्दर को अपने पास बिठाया और बड़े आग्रह से पूछा—"मुझे आशा है, तुम अपनी चेष्टाओं में अवश्य सफल हुए होगे।" रामसुन्दर ने निराशा-भरी आवाज में उत्तर दिया—"सफलता का कोई चिह्न नहीं मिला। भविष्यत् के लिए कोई आशा भी बाकी नहीं रही।" इस पर डाक्टर साहब ने उसे ढाढ़स देकर उसके चित्त-क्षोभ को बहुत कुछ कम कर दिया।

सतीश मामाजी के चरण छूकर अन्दर गया। सरला को देखते ही उसका मुख-कमल खिल उठा। उसने देखा कि उसके काम की हर चीज़ ठीक रक्खी हुई है और बड़ी सावधानता से उसके आने की बाट देखी जा रही है। सरला ने मुस्कराकर; पर ताने के साथ, पूछा—

"अबकी बार आपने कुल छुट्टियाँ बाहर ही बिता दीं?"

"मित्र के काम के लिए यह सब करना पड़ा, पर कोई फल न हुआ। इसके लिए मुझे भी दुःख है।"

"आपके मित्र का ऐसा क्या काम था, जिसके लिए तीन महीने इधर-उधर घूमना पड़ा और फिर भी वह न हो सका?"

"उस काम का ज़िक्र करने से भी, सरला, मुझे दुःख होता है। इसलिए, सुनकर तुम भी दुःखी हुए बिना न रह सकोगी। भोजन की बात तो कहो, क्या देर है ? भूख लग रही है।"

"बिलकुल तैयार है। मैं जाकर नौकर से आसन बिछाने के लिए कहती हूँ। आप, मामाजी और अपने मित्र को साथ लेकर आइए।"

यह कहकर सरला बड़ी फ़ुरती से चली गई। उसने बड़े क़रीने से भोजन चुनना शुरू किया। तीन थालों में भोजन चुना गया। जिन चीज़ों को गरम रखने की जरूरत थी, वे अभी तक गरम पानी में रक्खी हुई थीं; भोजन के साथ नहीं परोसी गई थीं। थोड़ी देर में डाक्टर साहब, सतीश और रामसुन्दर के साथ आ पहुँचे। भोजन शुरू हुआ, सरला ने बड़ी होशियारी से परोसना आरम्भ किया। भोजन करते समय इधर-उधर की बातें होने लगीं—

'सतीश—'मामाजी, स्टेशनों पर बहुत बुरा भोजन मिलता है। भाई रामसुन्दर, बलिया के स्टेशन की पूड़ियाँ याद हैं ?"

रामसुन्दर—"और लखनऊ के स्टेशन के 'निखालिस दूध' को तो कभी न भूलिएगा।"

सतीश—"पर तरकारी तो किसी भी स्टेशन की भूलने की नहीं।"

डा० सा—"ऐसे मौक़ों पर तो फल खा लेने चाहिए।"

सतीश—"मामाजी, बड़े स्टेशनों को छोड़कर और स्टेशनों पर फल नहीं मिलते।"

बातें भी जारी थीं। खाना भी जारी था। सरला का परोसना भी जारी था। रामसुन्दर यद्यपि बातों में योग दे रहा था; पर उसका ध्यान सरला ही की ओर था। वह बार-बार उसी को देखता था। उसकी इस हरकत से सतीश को थोड़ी-सी भीतर जलन पैदा हुई। मानिनी सरला ने भी मन में कुछ बुरा माना। भोजन साङ्ग हुआ। रामसुन्दर और सतीश ने एककण्ठ से कहा—"तीन महीने में आज ही तृप्त होकर भोजन किया है।"

चलते समय रामसुन्दर ने मुड़कर एक बार फिर सरला को देखा। अब की बार तो सतीश जल ही गया। दोनों मित्र बाहर आये। सतीश को गुस्सा आ ही रहा था कि रामसुन्दर को इस बेहूदा हरकत पर उसको लानत-मलामत दे कि इतने ही में उसने पूछा—

"भाई, यह लड़की कौन है? जब मैं पहले तुम्हारे यहाँ आया था, तब तो यहाँ यह न थी।"

मानों सतीश की प्रदीप्त क्रोधाग्नि पर मिट्टी का तेल पड़ा। उसने बड़ी घृणा के साथ कहा—

रामसुन्दर, तुम बड़े नीच हो। जब तक खाते रहे, तब तक उसकी ओर घूरते रहे। जब खाकर बाहर आये, तब फिर-फिरकर उसकी ओर देखा किये। अब तुम्हारी नीचता इतनी बढ़ गई कि मुझसे भी उसी प्रकार के प्रश्न करने लगे। मुझे तुम्हारी नैतिक अवस्था पर बड़ा दुःख है।'

सतीश की यह बकवास सुनकर रामसुन्दर को ज़रा भी क्रोध न आया। उसने बड़े विनीत भाव से कहा—

"भाई साहब, आप क्या कह रहे हैं? जो कुछ आपने मेरे आचरण के विषय में कहा, ठीक है; पर यह आचरण किस दृष्टि से देखना चाहिये, इस पर आप ने विचार नहीं किया। मैं समझता हूँ कि हमारा सैकड़ों मील इधर-उधर घूमना बेकार हुआ। जिसकी हमको तलाश थी, वह हमारे ही घर में मौजूद है। मैं सच कहता हूँ कि कई बार मेरे जी में आया कि अपनी नन्हीं को हृदय से लगा लूँ। आप मामाजी से इसके विषय में पूछिये तो मेरा हृदय कूद रहा है। कार्य सिद्ध हो गया।"

बड़े ही विस्मय और सलज्जता के साथ सतीश ने पूछा—"रामसुन्दर क्या सच कहते हो, यही तुम्हारी बहिन—नन्हीं है?"

"मेरी अवस्था आठ वर्ष की थी, जब प्यारी नन्हीं हमसे जुदा हुई थी। मुझे अब तक उसका चेहरा खूब याद है। वह हँसता हुआ स्वर्गीय कान्ति-पूर्ण चेहरा, आज भी मेरी आँखों के सामने फिर रहा है। सरला से उसका चेहरा बहुत मिलता है। मुझे खूब याद है, उसके गाल पर दो छोटे-छोटे स्याह तिल थे। सरला के चेहरे पर भी वैसे ही हैं। चलिए, मामाजी से इसके विषय में पूछ-ताछ करें।"

दोनों मित्र तत्काल डाक्टर साहब के कमरे में आये। डाक्टर साहब आराम-कुर्सी पर लेटे कोई व्यवसाय सम्बन्धी पुस्तक पढ़ना ही चाहते थे कि ये दोनों वहाँ पहुँच गये। उन्होंने कहा—

"सतीश, अब आराम करो। बहुत थके हो।"

सतीश ने धीरे से कहा—"मामाजी, रामसुन्दर सरला के विषय में आपसे कुछ पूछना चाहते हैं।"

डाक्टर साहब ने भाव-पूर्ण दृष्टि से रामसुन्दर को देखा, जिसका चेहरा हर्ष और विस्मय के मिले हुए भाव से एक विशेष प्रकार का आकार धारण कर रहा था।

डाक्टर साहब ने कहा—

"सरला के विषय में आप क्या और क्यों पूछना चाहते हैं?"

रामसुन्दर बड़े विनीत भाव से बोला—

"मामाजी! आज मैं अपने घर का एक रहस्य सुनाता हूँ।

उसी के विषय में मैं और भाई सतीश, इधर-उधर सैकड़ों मील घूमा किये। मगर सफलता तो क्या, उसके चिह्न तक भी नहीं मिले। अब मैं उस रहस्य को सुनाता हूँ। मेरे पिता दो भाई थे—रामप्रसाद और शिवप्रसाद। रामप्रसादजी मेरे पिता थे। शिवप्रसादजी के एक कन्या थी, जिसको घर के लोग स्नेह-वश नन्हीं कहा करते थे। वह मुझसे छः वर्ष छोटी थी। मेरे चाचा—नन्हीं के पिता—का देहांत मेरे पिता के सामने ही हो गया था। मेरी चाचीजी का स्वभाव बड़ा उग्र था। वे अपनी आन की बड़ी पक्की थीं। एक दिन मेरे पिता ने किसी घरेलू बात पर गुस्सा होकर उनसे घर से निकल जाने की बहुत ही बुरी बात कह दी। उसके लिए उनको सदा पश्चात्ताप रहा और इस बड़े भारी कलङ्क को साथ लिये ही उन्होंने इह-लोक परित्याग किया। मेरी

चाची ने उसी रात को घर छोड़ दिया। नन्हीं को भी वे साथ ले गईं। मेरे पिता ने बहुत तलाश की; पर पता न लगा। मरते समय उन्होंने मुझको अन्तिम वसीअत के तौर पर यही कहा कि 'जिस तरह हो, अपनी चाची और बहिन का पता लगाना। यदि पता लग जाय, तो उनकी सम्पत्ति मय उस दिन तक के सूद के उनको दे देना। इस तरह मेरी आत्मा के कलङ्क को धोने की चेष्टा करना। मेरा गया-श्राद्ध इसे ही समझना। यदि पता न लगे, तो तू भी विवाह मत करना। अपने शरीर के साथ ही वंश की समाप्ति कर देना; क्योंकि इस कलंक के साथ वंश-वृद्धि करना मानो कलङ्क ज़िन्दा रखना है। बेटा, वंश-नाश ही इस पाप का एक छोटा-सा; पर भयानक प्रायश्चित्त है। आशा है, तुम इस प्रायश्चित्त-द्वारा, मेरे कारण अपने वंश पर लगे इस कलङ्क से उसको मुक्त करने का—ज़रूरत हुई तो—सुप्रयत्न करोगे।" यह कहते-कहते मेरे पिता के प्राण-पखेरू उड़ गये। उनकी मृत्यु के बाद से ही मैं व्यग्र था कि इस विषय में क्या करूँ। भाई सतीश-चन्द्र से मैंने अपना रहस्य खोलकर कह दिया था और इन्होंने सदा की तरह मेरे इस दुःख में भी भाग लेना स्वीकार कर लिया था। अब, जैसा कि आपको मालूम है, हम लोग सैकड़ों मील का चक्कर और न-मालूम किन-किन मुसीबतों को झेलकर वापिस आ गये और कार्य्य-सिद्धि न हुई। पर, यहाँ आकर—यहाँ सरला को देखकर—मेरी अन्तरात्मा बार-बार यह कह रही है, कि यही मेरी बहन नन्हीं है। अब आप कृपा करके यह बतलाइए कि सरला

के विषय में मेरी जो यह धारणा है, उसको आप अमूलक तो नहीं समझते ?'

डाक्टर साहब ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया,—

"रामसुन्दर, मैं इसके उत्तर में स्वयं कुछ न कहकर तुमको वे पत्र दिये देता हूँ, जो सरला की माता ने मरते समय सरला के साथ ही मुझे सिपुर्द किये थे। मुझे प्रतीत होता है कि तुम अपनी चेष्टाओं में सफल हुआ चाहते हो।"

डाक्टर साहब ने बाक्स खोलकर वे दोनों लिफाफे रामसुन्दर के हाथ में दे दिये, जो सरला की माता ने उनको दिये थे। रामसुन्दर ने दोनों लिफ़ाफ़ों को खोलकर पढ़ा। उनको पढ़ते ही उनको निश्चय हो गया कि उसकी चाची का ही यह पत्र है और उसके पिता का ही वह इक़रार-नामा है। सरला भी प्यारी नन्हीं के सिवा और कोई नहीं। रामसुन्दर डाक्टर-बाबू के चरणों पर गिर पड़ा और सतीश, जो इस अभिनय को देखकर आश्चर्य्य में डूब रहा था, उठकर बाहर चला गया। डाक्टर बाबू ने सरला को बुलाया। वह तुरन्त आकर उपस्थित हो गई। रामसुन्दर भावावेश को न रोक सका और सरला को हृदय से लगाकर अश्रुवर्षन करने लगा। यदि डाक्टर-बाबू सरला से यह न कहते, तो वह अपने को बड़ी विपत्ति में समझती—

"बेटी, ये तुम्हारे भाई रामसुन्दर हैं। तुम्हारी तलाश में बहुत दूर तक घूम आये हैं। तुम उस दिन कहती थीं कि तुम्हारी माता तुमसे कभी-कभी जिक्र किया करती थी कि सरला, तुम्हारे

एक भाई है। वह अवश्य एक दिन तुमको मिलेगा। आज तुम्हारी स्वर्गीया माता की भविष्यद्वाणी पूरी हुई।"

(७)

चार मास के बाद डाक्टर राजनाथ ने नीचे लिखा हुआ निमन्त्रण-पत्र अपने मित्रों के नाम भेजा—

"प्रिय महोदय,

मेरे भानजे श्रीसतीशचन्द्र विद्यानिधि, एम० ए० का विवाह जौनपुर के सुप्रसिद्ध रईस स्वर्गीय पण्डित शिवप्रसादजी की कन्या के साथ होना निश्चित हुआ है। आपसे प्रार्थना है कि वसन्त पञ्चमी के दिन शाम को मेरे निवास-स्थान पर पधार कर, भोज में सम्मिलित हूजिए और दूसरे दिन प्रातःकाल ९ बजे की ट्रेन से बरात में सम्मिलित होकर मेरी मान-वृद्धि कीजिए।

निवेदक—

राजनाथ।"

कहने की ज़रूरत नहीं कि सरला का विवाह सतीश के साथ बड़ी धूम-धाम से हो गया। रामसुन्दर ने उसकी कुल सम्पत्ति दहेज़ में सरला के अर्पण कर दी। आज तक रामसुन्दर और सतीश मित्रता के ही ज़बरदस्त पाश में बद्ध थे। अब वे मित्रता और आत्मीयता के डबल पाश में बेतरह जकड़ गये!

———०———

(२) स्वामीजी

(१)

मारे छोटे से जीवन में भी कितने ही व्यापार घटे हैं, कितने ही हर्ष-शोक के समय आये हैं ; पर उस दिन की घटना यद्यपि उसे आज पूरे बीस वर्ष गुजर गये, जैसी स्पष्ट याद है वैसी और कोई बात याद नहीं। जब हमारी उम्र चार साल की थी, तब की भी हमें घटना याद है। उस समय ऊपर चढ़ते समय जीने से हम लुढ़क पड़े थे, चोट भी लगी थी। वह बात हमें आज भी जैसी साफ याद है—इन्ट्रेन्स की परीक्षा में इतिहास के पर्चे में क्या पूछा गया था—इस समय बिलकुल याद नहीं। मस्तिष्क-विद्या-विशारद ही इन गुत्थियों को खोल सकते हैं।

जून का महीना था। कालेज की छुट्टियाँ थीं। परीक्षा-फल प्रकट हो चुका था। पास होने की खुशी ताज़ी थी। मित्र भी सब पास हुए थे ; इसलिए हरद्वार जाने का प्रस्ताव पेश होते ही 'भारत-रक्षा कानून' की तरह सर्व सम्मति से 'पास' हो गया। उसी दिन रात को पञ्जाब-मेल में सवार होकर मित्र-मण्डली दूसरे

दिन तड़के ही हरद्वार में दाखिल हो गई। गंगा-स्नान और गंगा-तट पर भ्रमण का आनन्द खूब लूटा जाने लगा। सच तो यह है कि हम लोग उन दिनों विनोद की गंगा में बहे जा रहे थे। किसी को कुछ फिक्र न थी—जुलाई की १७ तारीख बेशक दूर खड़ी हुई अपना सूखा-सा मुँह दिखाकर बन्धन के दिनों की कभी-कभी याद दिला देती थी। उसी का खटका था। उस दिन कालेज खुलने को था। इसीलिए समय-विभाग करते समय उस तारीख का कभी-कभी जिक्र आ जाता था। बाक़ी कोई फिक्र न थी। मौज-ही-मौज थी।

हम सब लोग खूब तड़के उठते और हृषीकेश-रोड पर तीन-चार मील घूम कर "हर की पौढ़ी" पर स्नान किया करते थे। स्नानोपरान्त मिल-जुल कर भोजन बनाते। फिर खाली वक्त का साथी कोई खेल खेलते। शाम को गंगा-तट पर घूम कर वहाँ का अपूर्व दृश्य देख, मन और आँखों को युगपत् तृप्त करते थे। पर हमारा मित्र नवीनचन्द्र हमारी दिनचर्य्या में दोपहर तक का शरीक था। वह साधुओं का बड़ा भक्त था। एम० ए० पास करके भी साधुओं को भण्ड समझने की बुद्धि उसमें उत्पन्न न हुई थी। हम लोग उसे खूब छेड़ा करते थे। पर वह हमारे कटाक्षों की रत्ती भर पर्वा न करता था। हम जब कभी किसी साधु की निन्दा करते और उसको नशेबाज या कपटी साबित करने की चेष्टा करते, तभी वह कहता—"उन्हें साधु कहना भूल है। तलाश करो, साधु-संग पाओगे। इस तरह सर्व-व्यापक घृणा के

द्वारा तो तुम काँटों के साथ फूलों से भी दूर रहोगे।" उसकी बात में कुछ सार था, यह बात उस समय हमें मालूम न थी। नवीन ने इसी वर्ष संस्कृत में एम० ए० की परीक्षा नामवरी के साथ पास की थी। उसमें साधु-भक्ति की मात्रा भी खूब अधिक थी। इसलिए मित्र-मण्डल-विद्यालय की सीनेट ने उसको "पण्डितजी" की आनरेरी उपाधि से विभूषित करने में अपना भी गौरव समझा। नवीनचन्द्र दोपहर को भोजनोपरान्त हमसे विदा हो जाता था। उपनिषदों का गुटका और मिसेज़ बिसेन्ट की गीता उसकी आजानु-लम्बित जेबों में पड़ी रहती थी। उन्हें लेकर वह न-मालूम कहाँ-कहाँ घूमता, कुछ मालूम नहीं। शाम को भोजन बनाने से एक घण्टा पहले वह हमसे आ मिलता था। भोजन बनाने का भार "पण्डितजी" पर ही न्यस्त था। पर उनकी सेवा के लिए हम सब लोग उपस्थित रहते थे। मण्डली में जाति-भेद नाम को न था। सभी एकाकार थे; ब्राह्मण, कायस्थ और वैश्य सभी एक चौके में खाते थे। भोजन बनाने का काम भी खूब दिल्लगी का काम हो गया था।

एक दिन नवीनचन्द्र शाम तक वापिस न आया। मण्डली विचलित हो गई। अनमने होकर भोजन बनाने का काम शुरू किया गया। शाम के बाद नवीनचन्द्र लौटा। मित्रों ने तड़ा-तड़ प्रश्न करने शुरू कर दिये। सब के जवाब में उसने बड़ी शान्ति और धैर्य्य से कहा—"स्वामी चिद्घनानन्दजी के दर्शन के लिए मुझे आज गंगातट पर कई मील दूर जाना पड़ा। वहाँ

सत्सङ्ग में देर हो गई।" उसने स्वामीजी की शत-मुख से प्रशंसा की। उसके कहने से मालूम हुआ कि स्वामीजी सन्यासी साधु हैं। दर्शन-शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित हैं। परोपकारी हैं। दिन में एक बार भोजन करते हैं। यह सुनते ही मण्डली के सभ्यों की समालोचना शुरू हो गई। किसी ने वैराग्य का अर्थ बहु-राग और किसी ने एक समय भोजन करने का भाव परिपाक-शक्ति की न्यूनता बताई। नवीन ने उन सब बिना पूछी समालोचनाओं के उत्तर में एक बड़ी ही वेदना-भरी चितवन से हमारी ओर देखा। हम उसका मतलब समझ गये। वह हमसे मित्रों की कभी-कभी शिकायत किया करता था। सच तो यह है कि हममें उसकी पूज्य बुद्धि थी। वह हमारी इन बातों से नाराज़ न था। पर हमारी मानसिक अवस्था के लिए उसे दुःख ज़रूर था। हमने मित्रों को फटकार बताई और कहा कि हम सब कल प्रातः काल स्वामीजी के दर्शनार्थ चलेंगे।

(२)

प्रातः काल उठकर हम लोगों ने भ्रमण के लिए जाकर स्नान किया और स्वामीजी के दर्शन के लिए चल दिये। भगवती भागीरथी के पवित्र तट पर कई मील चल कर एक छोटा-सा मैदान मिला। वहाँ का दृश्य बहुत ही मनोहर था। गंगाजी की कलकल-ध्वनि, ज्यों-ज्यों हम ऊपर चढ़ते जाते, बढ़ती जाती थी। सब तरफ़ सन्नाटा था। इसी मैदान में स्वामीजी कुशासन पर ध्यान-मग्न बैठे थे। हम लोग गङ्गाजी के तट पर पड़ी एक

शिला पर बैठ गये और स्वामीजी के ध्यान-भंग की राह देखने लगे। हममें से नवीन को छोड़ कर प्रायः सभी नास्तिक थे। ईश्वर या प्रारब्ध पर विश्वास करना, मूर्खों का काम समझते थे। ईश्वर-भक्त को मूर्ख और प्रारब्धवादी को आलसी समझने का रोग हमारी मण्डली में खूब ज़ोरों पर था। स्वामीजी को ध्याना-वस्थित देखकर यारों की चंचल आँखें एक दूसरी से लड़ कर बेतार के तार से खबरें भेजने लगीं; एक घण्टे बाद स्वामीजी ने आँखें खोलीं। उनके चेहरे से दिव्य तेज झलक रहा था। हम सब ने प्रणाम किया। नवीन ने हम लोगों का संक्षिप्त परिचय स्वामीजी की सेवा में निवेदन किया। बातें होने लगीं। उनके उज्ज्वल नेत्रों से शान्त प्रकाश की लहरें निकल रही थीं। उनकी उम्र पचास वर्ष से ज़रूर ऊपर थी, पर उनका शरीर खूब स्वस्थ और सबल था। स्वामीजी की बुद्धि बड़ी पैनी थी। जिस विषय पर बातचीत चलती, स्वामीजी उसी विषय की गहरी-से-गहरी बात को बड़ी आसानी से बाहर निकाल लाते। स्वामीजी हमसे मित्रों की तरह बातचीत कर रहे थे। गुरुडम की भयानक मूर्त्ति का वहाँ कोसों तक पता न था। हम लोग भी उनकी सरलता पर मुग्ध होकर खुले दिल से बातें कर रहे थे। हमारे साथी रामप्रसाद उर्फ मौजीराम ने कहा—"महाराज, अब तो कुछ दिनों के लिए लोगों को चाहिये कि साधु बनना बन्द कर दें। साधुओं की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है।" स्वामीजी ने हँस-कर कहा—"लोग कुछ दिनों के लिए गृहस्थ बनना छोड़ दें, तो कुछ

लाभ होने की सम्भावना है। मनुष्य-संख्या बेतरह बढ़ रही है। गृहस्थ न बनने से ही मनुष्यों की बढ़ती में कमी हो जायगी।"

मौजीराम चुप हो गए। इसी समय एक गृहस्थ अपने परिवार-समेत वहाँ आया। उसने आते ही स्वामीजी को प्रणाम करके नवीन बाबू से पूछा—"कुशल-पूर्वक हैं?" गृहस्थ के साथ उसकी स्त्री, षोडशी कन्या और एक दासी थी। ये सब लोग भी गङ्गा तट पर बैठ गए। बातें हो रही थीं। हमारी मण्डली की ओर से प्रश्नों की और स्वामीजी की ओर से उत्तरों की झड़ी लग रही थी। नवीन के साथ गृहस्थ का पुराना परिचय है, इसका पता लगते ही चुलबुले मित्रों की चपल चितौनियाँ नवीनचन्द्र के चिन्ता-पूर्ण चेहरे की ओर फिर गईं। परन्तु वह स्वामीजी के शान्त आश्रम में बैठा हुआ, किसी अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव कर रहा था। हमारे साथी गदाधर उर्फ गञ्जेगोपाल ने बड़े विनीत भाव से पूछा—

"स्वामिन्, त्याग का आदर्श क्या है?"

स्वामीजी—"दूसरों के सुखों के लिए अपने सुखों को छोड़ देना। इस तरह अभ्यास करते-करते फिर अपने-पराये सुख का भेद नहीं रहता। फिर आनन्द की धारा समान भाव से बहने लगती है।"

गदाधर—"पर ऐसे महात्मा आज-कल बिरले ही हैं, इसका कारण क्या है?"

गञ्जेगोपाल के कटाक्ष को समझ कर स्वामीजी ने मुसकराते हुए कहा—

"इसका कारण गृहस्थों की सिद्धान्त-शून्यता है। साधुओं का निकास तो वहीं से है। तुम लोगों में कितने आदमी पारमार्थिक विषयों के लिए न सही, अपनी जाति या देश के लिए ही अपने सुखों का त्याग कर सकते हैं ? फिर साधु होकर तुम विश्व-प्रेम में रँग जाओगे और उसके लिए अपने सुखों का ध्यान छोड़ दोगे—इस बात की तुमसे आशा करना व्यर्थ नहीं, तो कुछ अधिक जरूर है।"

गङ्गे गोपाल चुप हुए। मन्नूलाल उर्फ मस्तराम ने हाथ जोड़ कर कहा—

"जब कोई भोला-भाला यात्री धोखे से ड्योढ़े दरजे में आ बैठता है, तब हम उसकी भर्त्सना करके उसको गन्तव्य पथ दिखा देते हैं, और इस तरह, उसके कुछ पैसे बचाने का अक्षय पुण्य प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए हमें एकदम उपकार शून्य कहना, कुछ बहुत सङ्गत प्रतीत नहीं होता।"

स्वामीजी इस बात पर खिलखिलाकर हँस पड़े। उनकी खिलखिलाहट में परितृप्ति और सन्तोष की मात्रा खूब अधिक थी। वासना-तप्त पुरुषों के हृत्कमल में परितृप्ति का यह भाव कहाँ मिल सकता है ?

गङ्गाजी का प्रवाह अनन्त के मार्ग में अनन्त से मिलने के लिए भागा जा रहा था। हमारी बातें भी अनन्ताकाश के गर्भ में छिपी चली जाती थी। बातें भी अनन्त-रूप धारण कर रही थीं। स्वामीजी भी खूब दत्तचित्ततता से बातें कर रहे थे। बड़ी मौज

का समय था। गृहस्थ ने देखा कि लड़कों की मण्डली स्वामीजी को जल्द छोड़नेवाली नहीं। इसलिए उसने स्नान के लिए स्वामीजी से आज्ञा माँगी। वे लोग निकट ही गङ्गातट पर स्नान करने लगे। वृद्ध ने सबसे पहले स्नान करके सन्ध्योपासना शुरू की। उसकी स्त्री और लड़की ने स्नान के लिए गङ्गा में प्रवेश किया। एक ही क्षण के बाद वृद्ध की स्त्री ने चिल्लाकर कहा—"दौड़िए! दौड़िए!! शारदा डूबी जाती है।" उसकी बात हम लोगों ने भी सुनी। स्वामीजी और हम सब तत्काल ही तट पर पहुँच गये। वृद्ध का चेहरा सूख गया था। उसका शरीर काँप रहा था। उसने बड़ी वेदना और निराशा-भरी दृष्टि से स्वामीजी को देखा। शारदा गङ्गा के तरंग-जाल में बेतरह फँस गई थी। उसका चेहरा विकृत होने पर भी, गङ्गा-गर्भ में अपूर्व रूप-राशि विकीर्ण कर रहा था। निस्सन्देह उसकी दृष्टि में उदासीनता और नैराश्य के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। हम सब किंकर्त्तव्य विमूढ़ हुए चित्र की तरह खड़े थे। स्वामीजी ने बड़ी जोर से छलाँग मारी। वे एक ही छलाँग में शारदा के बहुत पास पहुँच गये। इसी समय फिर छपाक का शब्द हुआ। हम लोगों ने देखा कि नवीन भी तैरता हुआ स्वामीजी के पीछे जा रहा है। स्वामीजी ने बड़ी सफ़ाई से शारदा को उठा लिया। शारदा ज्ञान-शून्य हो गई थी। गङ्गा का प्रवाह खूब तेज था। स्वामीजी बहुत चेष्टा करने पर भी गङ्गा की बलवती तरंगों को, शारदा को, लिए हुए, न काट सके। हम लोगों ने देखा कि स्वामीजी बल-

हीन होकर गङ्गा के प्रवाहाभिमुख बहने लगे। ठीक इसी समय नवीन उनकी सहायता के लिए उनके पास पहुँच गया। उसने बड़ी वीरता से दोनों को सँभाला। शारदा को छोड़कर स्वामीजी फिर स्वस्थ हो गये। बड़ी मुश्किल से नवीन और स्वामीजी ने, अपनी जान पर खेलकर, शारदा को बाहर निकाला। वृद्ध और उसकी स्त्री स्वामीजी के चरण छूने के लिए दौड़े। पर उन्होंने उनको ऐसा करने से निषेध कर दिया। वे रो-रोकर स्वामीजी का गुण-गान करने लगे। स्वामीजी ने कहा—

"हमने कोई प्रशंसा-योग्य काम नहीं किया—किया है अपने कर्तव्य का पालन। नवीन-बाबू ने ज़रूर अपनी श्रेष्ठ-बुद्धि का परिचय दिया है। साधु का जीवन दूसरों के लिए ही है और फिर तुम तो..."

कहकर स्वामीजी रुक गये। स्वामीजी की बात सुनकर हमारे हृदय की तन्त्री में त्याग का राग बजने लगा। स्वामीजी की निष्कपट और सरल मूर्ति में हमने सचमुच उस समय मूर्तिमान् त्याग के दर्शन किये।

वृद्ध ने स्वस्थ होकर नवीनचन्द्र की जाति-गोत्र के विषय में प्रश्न करने शुरू किये। उसी समय स्वामीजी ने सरलता की हँसी हँसते हुए कहा—

"बाबू कृष्णदास, विवाह का दूसरा नाम पाणि-ग्रहण है। नवीन-बाबू ने शारदा का पाणि-ग्रहण करके निश्चय ही तुमको कृतार्थ किया है। जिस समय थककर हम डूबने लगे थे, उस

समय इच्छा न रखते हुए भी नवीन को शारदा का हाथ पकड़ने की आज्ञा हमने दे दी थी। सच यह है कि इसी के पुरुषार्थ से तुम्हारी कन्या के प्राण बचे हैं और साथ में हमारा पापी शरीर गङ्गा-लाभ करते-करते बच गया है। सिद्धान्त-दृष्टि से विवाह विधि सांग हो गई। अब लौकिक व्यवहार की रक्षा के लिए कोई शुभ दिन नियत करके इस संस्कार के बाह्य अंग की पूर्ति भी कर देनी चाहिए। नवीन-बाबू जैसे निष्ठावान् विद्वान् और सदाचारी जामाता के लिए हम तुम्हें हृदय से बधाई देते हैं।"

नवीन-बाबू "स्वामिन" कहकर कुछ कहा ही चाहते थे कि स्वामीजी ने अर्थ पूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखकर कहा—

"नवीन, विधि के विधान के विरुद्ध बोलने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं। बाबू कृष्णदास हमारे बाल्य-सखा हैं, यह बात इच्छा न रहते भी हमें आज कहनी पड़ी है। ये रिटायर्ड डिप्टी कलेक्टर हैं। बड़े सज्जन हैं। इनकी एक-मात्र कन्या शारदा को हमने गोद खिलाया है। इस निष्पृहावस्था में भी हमें उससे सन्तान की तरह स्नेह है। इसका कारण भारवि के शब्दों में यही है—भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः।"

"जब से हम साधु-वेष में रहते हैं, तब से बराबर कृष्णदास बाबू साल में एक बार हमसे मिलने आते हैं। अपनी कन्या के सम्बन्ध के विषय में ये कई वर्षों से चिन्तित हैं। इन्होंने कल तुमसे बात-चीत करके बहुत आनन्द पाया था। हमसे यह जान-कर कि तुम अनूढ़ हो, उन्होंने कल ही तुमसे यह प्रस्ताव करने

का निश्चय कर लिया था। यदि आज यह घटना न होती, तो भी तुमसे यह प्रस्ताव किया ही जाता। किन्तु अब तो जिस रत्न का तुमने स्वयं उद्धार किया है, उस पर तुम्हारा स्वयं भी अधिकार हो गया है। शारदा बड़ी लजीली और शुभ गुण-सम्पन्ना लड़की है। तुम-जैसे निष्ठावान् हिन्दू की पत्नी बनने के लिए यह सर्वथा योग्य है। हमारा-तुम्हारा कुछ ही दिनों का परिचय है। फिर भी तुम्हारी हम पर श्रद्धा न सही, तो कृपा ज़रूर ही है। इस छोटे-से रिश्ते से ही हम तुमसे यह प्रार्थना करने की धृष्टता कर रहे हैं। आशा है, हमारी प्रार्थना स्वीकार करके हमारे मित्र का उपकार करने में अब तुम आगा-पीछा न करोगे।"

नवीन ने—"मुझे आपकी आज्ञा अविचार्य्य रूप से मान्य है"—कहकर सिर झुका लिया। उस दिन शाम को "पण्डितजी" के ट्रंक का ताला तोड़ कर उसमें जितने रुपये थे निकाल लिये गये और उनको मिठाई और फलों से बदल कर मित्र-मण्डल ने गङ्गा-तट पर षोडशोपचार से पेट-भगवान् की पूजा की। उस दिन पण्डितजी को भोजन बनाने की तकलीफ़ भी न उठानी पड़ी।

(३)

अगले सहालग मे ही सुलतानपुर मे कृष्णदास बाबू के निवास-स्थान पर नवीन का विवाह बड़ी सादगी से सम्पन्न हो गया। मित्र-लण्डली उपस्थित थी। स्वामीजी भी पधारे थे।

खूब सत्संग रहा। पण्डित मदनमोहन शास्त्री, एम० ए० को स्वामी चिद्घनानन्द के रूप में देखकर सुलतानपुर निवासी बड़े आश्चर्य्यान्वित हुए। हम लोगों के आश्चर्य्य की भी, यह जानकर कि स्वामी चिद्घनानन्द उस समय सुलतानपुर में डिप्टी कलेक्टर थे जिस समय बाबू कृष्णदास वहाँ के तहसीलदार थे, सीमा न रही। स्वामीजी ने तुलसी-कृत "रामायण" की एक प्रति शारदा को और अपने पढ़ने की "चित्सुखी" नवीन को उपहार-स्वरूप भेंट की। उस दिन से स्वामीजी का पता और किसी को तो क्या, उनके अभिन्न-हृदय मित्र कृष्णदास बाबू को भी न लगा।

बीस बरस हो गये, पर हरद्वार की वह यात्रा और शारदा का गोते खाया हुआ वह म्लान चेहरा, हमें आज भी खूब याद है। स्वामीजी का स्मरण आते ही उनके प्रति श्रद्धा का भाव हमारे हृदय में आज भी वैसा ही फिर हो जाता है। दिन चले गये, पर स्मृति-पट पर उस सययका चित्र वैसा ही खिंचा हुआ है।

———o———

२—महाशय सुदर्शन

आप पंजाब के निवासी हैं। आप कई समाचार-पत्रों का सम्पादन भी कर चुके हैं। आपका हिन्दी और उर्दू—दोनों ही भाषाओं—पर अधिकार है। आपके गल्प बड़े मनोरंजक, शिक्षा-प्रद और भाव-पूर्ण होते हैं। आपके गल्पों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आप अच्छे नाट्यकार भी हैं। आपको दो बार "पंजाब टेक्स्ट-बुक कमेटी" से पुरस्कार मिल चुके हैं। आपकी शैली बड़ी मर्म-स्पर्शी तथा लालित्य-पूर्ण है। मनोभावों का चित्रण करने में आप निपुण हैं।

(१) संन्यासी

(१)

खनवाल, ज़िला गुजरात, का पालू उन मनुष्यों में से था जो गुणों की गुथली कहे जाते हैं। यदि वह गाँव में न होता, तो होलियों में झाँकियों का, दीवाली पर जुए का, और दशहरे पर रामलीला का प्रबन्ध कठिन हो जाता था। उन दिनों उसे खाने-पीने तक की सुधि न रहती और वह तन-मन से इन कार्यों में लीन रहता था। गाँव में कोई गाने वाला आ जाता तो लोग पालू के पास जाते कि देखो कुछ राग-विद्या जानता भी है, या यों ही हमें गँवार समझकर धोखा देने आ गया है। पालू अभिमान से सिर हिलाता और उत्तर देता,—"पालू के रहते हुए तो यह असम्भव है, पीछे की भगवान् जाने।" केवल इतना ही नहीं, वह बाँसुरी और घड़ा बजाने में भी पूरा उस्ताद था। हीर-राँझे का किस्सा पढ़ने में, तो दूर-दूर तक कोई उसके जोड़ का न था। दोपहर के समय जब वह पीपल के वृक्ष के नीचे बैठकर ऊँचे स्वर से जोगी और सहती के प्रश्नोत्तर पढ़ता, तो

सारे गाँव के लोग इकट्ठे हो जाते और उसकी प्रशंसा के पुल बाँध देते। उसके स्वर में जादू था। वह कुछ दिन के लिए भी बाहर चला जाता, तो गाँव में उदासी छा जाती। पर उसके घर के लोग उसके गुणों को नहीं जानते थे। पालू मन-ही-मन इस पर बहुत कुढ़ता था। तीसरे पहर घर जाता, तो माँ ठण्डी रोटियाँ सामने रख देती। रोटियाँ ठण्डी होती थीं; परन्तु गालियों की भाजी गर्म होती थी। उस पर भावजें मीठे तानों से कड़वी मिर्चें छिड़क देती थीं। पालू उन मिर्चों से कभी-कभी बिलबिला उठता था; परन्तु लोगों की सहानुभूति मिश्री की डली का काम दे जाती थी।

वे तीन भाई थे—सुचालू, बालू और पालू। सुचालू गवर्नमेंट-स्कूल गुजरात में व्यायाम का मास्टर था, इसलिए लोग उसे सुचालामल के नाम से पुकारते थे। बालू दूकान करता था; उसे बालकराम कहते थे। परन्तु पालू की रुचि सर्वथा खेल-कूद ही में थी। पिता समझाता, माँ उपदेश करती, भाई निष्ठुर दृष्टि से देखते। मगर पालू सुना-अनसुना कर देता और अपने रंग में मस्त रहता।

इसी प्रकार पालू की आयु के तैंतीस वर्ष बीत गये; परन्तु कोई लड़की देने को तैयार न हुआ। मा दुखी होती थी, मगर पालू हँसकर टाल देता और कहता—"मैं ब्याह करके क्या करूँगा? मुझे इस बन्धन से दूर ही रहने दो।" परन्तु विधाता के लेख को कौन मिटा सकता है पाँच मील की दूरी पर टाँडा-

नामक ग्राम है। वहाँ के एक चौधरी ने पालू को देखा है, तो लट्टू हो गया। रूप-रङ्ग में सुन्दर था, शरीर सुडौल। जात-पात पूछ कर उसने अपनी बेटी ब्याह दी।

(२)

पालू के जीवन में पलटा आ गया। पहले वह दिन के बारह घण्टे बाहर रहता था और घर से ऐसा घबराता था, जैसे चिड़िया पिंजरे से। परन्तु अब वही पिंजरा उसके लिए फूलों की वाटिका बन गया, जिससे बाहर पाँव रखते हुए उसका चित्त उदास हो जाता था। स्त्री क्या आई, उसका संसार ही बदल गया। अब उसे न बाँसुरी से प्रेम था, न किस्सों से प्रीति। लोग कहते, यार! कैसे जोरू-दास हो, कभी बाहर ही नहीं निकलते। हमारे सब साज-समाज उजड़ गये। क्या भाभी कभी कमरे से बाहर निकलने की भी आज्ञा नहीं देतीं? मा कहती, बेटा ब्याह सबके होते आये हैं; परन्तु तेरे सरीखा निर्लज्ज किसी को नहीं देखा कि दिन-रात स्त्री के पास ही बैठा रहे। पिता उसके मुँह पर उसे कुछ कहना उचित नहीं समझता था, मगर सुनाकर कह दिया करता था कि जब मेरा ब्याह हुआ था, तब मैंने दिन के समय तीन वर्ष तक स्त्री के साथ बात तक न की थी। पर अब तो समय का रंग ही पलट गया है। आज ब्याह होता है, कल घुल-घुलकर बातें होने लगती हैं। पालू लाख अनपढ़ था, परन्तु मूर्ख नहीं था कि इन बातों का अर्थ न समझता। पर स्वभाव का बेपरवा था, हँसकर टाल देता। होते-होते नौबत

यहाँ तक पहुँची, कि भाई-भावजें बात-बात में ताने मारने और घृणा की दृष्टि से देखने लगीं। मनुष्य सब कुछ सह लेता है ; पर अपमान नहीं सह सकता। पालू भी बार-बार के अपमान को देखकर चुप न रह सका। एक दिन पिता के सामने जाकर बोला—"यह क्या रोज़-रोज़ ऐसा ही होता रहेगा ?"

पिता भी उससे बहुत दुःखी था, झल्लाकर बोला—

"तुम्हारे-जैसों के साथ इसी तरह होना चाहिए।"

"पराई बेटी को विष खिला दूँ ?"

"नहीं, गले में डाल लो। जगत् में तुम्हारा ही अनोखा व्याह हुआ है।"

पालू ने कुछ धीरज से पूछा—"आप अपना विचार प्रकट कर दें। मैं भी तो कुछ जान पाऊँ।"

"सारे गाँव में तुम्हारी मिट्टी उड़ रही है। अभी बतलाने की बात बाक़ी रह गई है ?"

"पर मैंने ऐसी कोई बात नहीं की, जिससे मेरी निन्दा हो।"

"सारा दिन स्त्री के पास बैठे रहते हो, यह क्या कोई थोड़ी निन्दा की बात है ? तुम सुधर जाओ, नहीं सारी आयु रोते रहोगे। हमारा क्या है, नदी-किनारे के रूख हैं, आज हैं कल बह गये ; परन्तु इतना तो सन्तोष रहे, कि जीते-जी अपने सब पुत्रों को कमाते-खाते देख लिया।"

यह कहते-कहते पिता के नेत्रों में आँसू भर आये। उसकी एक-एक बात जँची-तुली थी।

पालू को अपनी भूल का ज्ञान हो गया, सिर झुकाकर बोला—"तो जो कहें वही करने को उद्यत हूँ।"

इतनी जल्दी काम बन जायगा, पिता को यह आशा न थी। प्रसन्न होकर कहने लगा—"जो कहूँगा, करोगे?"

"हाँ करूँगा।"

"स्त्री को उसके घर भेज दो।"

पालू को ऐसा प्रतीत हुआ मानो किसी ने विष का प्याला सामने रख दिया हो। यदि उसे यह कहा जाता, कि तुम घर से बाहर चले जाओ और एक-दो वर्ष वापस न लौटो, तो वह सिर न हिलाता; परन्तु इस बात से, जो उसकी भूलों की निकृष्टतर स्वीकृति थी, उसके अन्तःकरण को दारुण दुःख हुआ। उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो उसका पिता उसे दण्ड दे रहा है और उससे प्रतीकार ले रहा है। वह दण्ड भुगतने को तैयार था; परन्तु उसका पिता इस बात को जान पाये, यह उसे स्वीकार न था। वह इसे अपने लिये अपमान का कारण समझता था; इसलिए कुछ क्षण चुप रहकर उसने क्रोध से काँपते हुए उत्तर दिया—

"यह न होगा।"

"मेरी कुछ भी परवा न करोगे?"

"करूँगा; पर स्त्री को उसके घर न भेजूँगा।"

"तो मैं भी तुम्हें पराँवठे न खिलाता रहूँगा। कल से किनारा करो।"

जब मनुष्य को क्रोध आता है, तो सबसे पहले जीभ बेकाबू

होती है। पालू ने भी उचित-अनुचित का विचार न किया और अकड़कर उत्तर दिया—"मैं इसी से खाऊँगा और देखूँगा कि मुझे चौके से कौन उठा देता है?"

बात साधारण थी; परन्तु हृदयों में गाँठ बँध गई। पालू को उसकी स्त्री ने भी समझाया, मा ने भी; पर उसने किसी की बात पर कान न दिया, और बे-परवाई से सबको टाल दिया। दिन को प्रेम के दौर चलते, रात को स्वर्ग-वायु के झकोरे आते। पालू की स्त्री की गोद में दो वर्ष का बालक खेलता था, जिस पर माता पिता दोनों न्योछावर थे। एकाएक उजाले में अन्धकार ने सिर निकाला। गाँव में विशूचिका का रोग फूट पड़ा, जिसका पहला शिकार पालू की स्त्री हुई।

(३)

पालू विलक्षण प्रकृति का मनुष्य था। धीरता और नम्रता उसके स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल थी। बाल्यावस्था में वह बे-परवा था। बे-परवाई चरमसीमा पर पहुँच चुकी थी। आठ-आठ दिन घर से बाहर रहना उसके लिये साधारण बात थी। फिर विवाह हुआ, प्रेम ने हृदय के साथ पाँवों को भी जकड़ लिया। यह वह समय था, जब उसके नेत्र एकाएक बाह्य संसार की ओर से बन्द हो गये और वह इस प्रकार प्रेम-पास में फँस गया; जैसे—शहद में मक्खी। मित्र-मण्डली नोक-झोंक करती थी, भाई-बन्धु आँखों में मुसकुराते थे; मगर उसके नेत्र और कान—दोनो बन्द थे। परन्तु जब स्त्री भी मरगई, तो पालू की प्रकृति

फिर चञ्चल हो उठी। इस चञ्चलता को न खेल-तमाशे रोक सके, न मनोरञ्जक किस्से कहानियाँ। यह दोनों रास्ते उससे पद-दलित किये जा चुके थे। प्रायः ऐसा देखा गया है कि पढ़े-लिखे लोगों की अपेक्षा अनपढ़ और मूर्ख लोग अपनी टेक का ज्यादा ख़याल रखते हैं और इसके लिये तन-मन-धन तक न्योछावर कर देते हैं। पालू में यह गुण कूट-कूट कर भरा हुआ था। माता पिता ने दुबारा विवाह करने की ठानी ; परन्तु पालू ने स्वीकार न किया और उनके बहुत कहने-सुनने पर कहा कि जिस बन्धन से एक बार छूट चुका हूँ, उसमें दुबारा न फँसूँगा। गृहस्थ का सुख-भोग मेरे प्रारब्ध में न था, यदि होता, तो मेरी पहली स्त्री क्यों मरती। अब तो इसी प्रकार जीवन बिता दूँगा ; परन्तु यह अवस्था भी अधिक समय तक न रह सकी। तीन मास के अन्दर-अन्दर उसके माता-पिता—दोनों चल बसे। पालू के हृदय पर दूसरी चोट लगी। क्रिया-कर्म से निवृत्त हुआ, तो रोता हुआ बड़ी भावज के पाँवों में गिर पड़ा और बोला—"अब तो तुम्हीं बचा सकती हो ; अन्यथा मेरे मरने में कोई कसर नहीं।"

भावज ने उसके सिर पर हाथ फेरकर कहा—मैं तुम्हें पुत्रों से बढ़कर चाहूँगी। क्या हुआ, जो तुम्हारे माता-पिता मर गये। हम तो जीते हैं।"

"यह नहीं, मेरे बेटे को सँभालो। मैं अब घर में न रहूँगा।"

उसकी भाभी अवाक् रह गई। पालू अब सम्पत्ति बाँटने के लिये झगड़ा करेगा, उसे इस बात की शङ्का थी ; परन्तु यह

सुनकर कि पालू घर-बार छोड़ जाने को उद्यत है, उसका हृदय आनन्द से झूलने लगा। मगर अपने हर्ष को छिपाकर बोली—

"यह क्या ? तुम भी हमें छोड़ जाओगे, तो हमारा जी यहाँ कैसे लगेगा ?"

"नहीं, अब यह घर भूत के समान काटने दौड़ता है। मैं यहाँ रहूँगा, तो जीता न बचूँगा। मेरे बच्चे के सिर पर हाथ रक्खो। मुझे न धन चाहिए, न सम्पत्ति। मैं सांसारिक धन्धों से मुक्त होना चाहता हूँ। अब मैं संन्यासी बनूँगा।"

यह कहकर अपने पुत्र सुखदयाल को पकड़कर भावज की गोद में डाल दिया और रोते हुए बोला—"इसकी मा मर चुकी है, पिता संन्यासी हो रहा है। परमात्मा के लिए इसका हृदय न दुखाना।"

बालक ने जब देखा कि पिता रो रहा है, तो वह भी रोने लगा और उसके गले लिपट गया ; परन्तु पालू के पाँव को यह स्नेह-रज्जु भी न बाँध सकी। उसने हृदय पर पत्थर रक्खा और अपने संकल्प को दृढ़ कर लिया।

कैसा हृदय-वेधक दृश्य था, सायङ्काल को जब पशु-पक्षी अपने अपने बच्चों के पास घरों को वापस लौट रहे थे, पालू अपने बच्चे को छोड़कर घर से बाहर जा रहा था !

(४)

दो वर्ष बीत गये। पालू की अवस्था में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया। वह पर्वत पर रहता था, पत्थरों पर सोता था,

रात्रि को जागता था और प्रति-क्षण ईश्वर-भक्ति में मग्न रहता था। उसके इस आत्म-संयम की, सारे हृषिकेश में, धूम मच गई। लोग कहते, यह मनुष्य नहीं देवता है। यात्री लोग जब तक स्वामी विद्यानन्द के दर्शन न कर लेते, अपनी यात्रा को सफल न समझते। उसकी कुटिया बहुत दूर पर्वत की एक कन्दरा में थी; परन्तु उसके आकर्षण से लोग वहाँ खिंचे चले आते थे। उसकी कुटिया में रुपये-पैसे और फल-मेवे के ढेर लगे रहते थे; परन्तु वह त्याग का मूर्त्तिमान् रूप उनकी ओर आँख भी न उठता था। हाँ, इतना लाभ अवश्य हुआ कि उनके निमित्त स्वामीजी के बीसों चेले बन गये। स्वामीजी के मुख-मण्डल पर तेज बरसता था, जैसे सूरज से किरणें निकलतीं हैं। परन्तु, इतना होते हुए मन को शान्ति न थी। बहुधा सोचा करते कि देश-देशान्तर में मेरी भक्ति की धूम मच रही है, दूर-दूर मेरे यश के डंके बज रहे हैं, मेरे संयम को देखकर बड़े-बड़े महात्मा चकित रह जाते हैं; परन्तु मेरे मन को शान्ति क्यों नहीं। सोता हूँ, तो सुख की निद्रा नहीं आती; जगता हूँ तो पूजा-पाठ में मन एकाग्र नहीं होता। इसका कारण क्या है? उन्हें कई बार ऐसा अनुभव हुआ कि चित्त में अशान्ति है; पर वह क्यों है, इसका पता न लगता।

इसी प्रकार दो वर्ष व्यतीत हो गये। स्वामी विद्यानन्द की कीर्त्ति सारे हृषीकेश में फैल गई; परन्तु इतना होने पर भी उनका हृदय शान्त न था। प्रा:य उनके कान में आवाज आती थी कि तू अपने आदर्श से दूर जा रहा है। स्वामीजी बैठे-बैठे चौंक

उठते, मानो किसी ने काँटा चुभो दिया हो। बार-बार सोचते; परन्तु कारण समझ में न आता। तब वे घबराकर रोने लग जाते। इससे मन तो हल्का हो जाता था; परन्तु चित्त को शान्ति फिर भी न होती। उस समय सोचते—संसार मुझे धर्मावतार समझ रहा है; पर कौन जानता है कि यहाँ आठों पहर आग सुलग रही है। पता नहीं, पिछले जन्म में कौन पाप किये थे, जिससे अब तक आत्मा को शान्ति नहीं मिलती।

अन्त में उन्होंने एक दिन दण्ड हाथ में लिया और अपने गुरु स्वामी प्रकाशानन्द के पास जा पहुँचे। उस समय वे रामायण की कथा से निवृत्त हुए थे। उन्होंने ज्योंही स्वामी विद्यानन्द को देखा, फूल की तरह खिल गये। उनको विद्यानन्द पर गर्व था। हँसकर बोले—

"कहिए क्या हाल है, शरीर तो अच्छा है?"

परन्तु स्वामी विद्यानन्द ने कोई उत्तर न दिया, और रोते हुए उनके चरणों से लिपट गये।

स्वामी प्रकाशानन्द को बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने सबसे अधिक माननीय शिष्य को रोते देखकर उनके आत्मा पर आघात-सा लगा। उन्हें प्यार से उठाकर बोले—"क्यों कुशल तो है?"

स्वामी विद्यानन्द ने बालकों की तरह फूट-फूटकर रोते हुए कहा—"महाराज, मैं पाखण्डी हूँ। संसार मुझे धर्मावतार कह रहा है; परन्तु मेरे मन में अभी तक अशान्ति भरी हुई है। मेरा चित्त आठों पहर अशान्त रहता है।"

जिस प्रकार भले-चंगे मनुष्य को देखने के कुछ क्षण पश्चात् उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर विश्वास नहीं होता, उसी प्रकार स्वामी प्रकाशानन्द को अपने सदाचारी शिष्य की बात पर विश्वास न हुआ, और उन्होंने इस व्यंग्य से, मानो उनके कानों ने धोखा खाया हो, पूछा—"क्या कहा ?"

स्वामी विद्यानन्द ने सिर झुकाकर उत्तर दिया, "महाराज, मेरा शरीर दग्ध हो गया है ; परन्तु आत्मा अभी तक निर्मल नहीं हुआ।"

"इससे तुम्हारा अभिप्राय क्या है ?"

"मैं प्रतिक्षण अशान्त रहता हूँ, मानो कोई कर्त्तव्य है, जिसे मैं पूरा नहीं कर रहा हूँ।"

"इसका कारण क्या हो सकता है, जानते हो ?"

"जानता, तो आपकी सेवा में क्यों आता ?"

एकाएक स्वामी प्रकाशानन्द को कोई बात याद आ गई। वे हँसकर बोले—"तुम्हारी स्त्री है ?"

"उसकी मृत्यु ही तो संन्यास का कारण हुई थी।"

"माता ?"

"वह भी नहीं।"

"पिता !"

"वह भी मर चुके हैं।"

"कोई बाल-बच्चा ?"

"हाँ एक बालक है, वह चार वर्ष का होगा।"

"उसका पालन कौन करता है ?"

"मेरा भाई और उसकी स्त्री ।"

स्वामी प्रकाशानन्द का मुख-मण्डल चमक उठा । हँसकर बोले—

"तुम्हारी अशान्ति का कारण मालूम हो गया, हम कल तुम्हारे गाँव को चलेंगे ।"

विद्यानन्द ने नम्रता से पूछा—

"मुझे शान्ति मिल जायगी ?"

"अवश्य ; परन्तु कल अपने गाँव की तैयारी करो ।"

(५)

पालू के मित्रों में लाला गणपतराय का पुत्र भोलानाथ हाँडा बड़ा सज्जन पुरुष था । लखनवाल के लोग उसकी सज्जनता पर लट्टू थे । उसे पालू के साथ प्रेम था । उसके मन की स्वच्छता, उसका भोलापन, उसकी निःस्वार्थता पर भोलानाथ तन-मन से न्योछावर था । जब तक पालू लखनवाल में रहा, भोलानाथ ने सदैव उसकी सहायता की । वे दोनों जोहड़ के किनारे बैठते, धर्मशाला में जाकर खेलते, मन्दिर में जाकर कथा सुनते । लोग देखते, तो कहते, कृष्ण-सुदामा की जोड़ी है । परन्तु कृष्ण के आदर-सत्कार करने पर भी जब सुदामा ने वन का रास्ता लिया, तब कृष्ण को बहुत दुःख हुआ । इसके पश्चात् उनको किसी ने खुलकर हँसते नहीं देखा ।

भोलानाथ ने पालू का पता लगाने की बड़ी चेष्टा की ; परन्तु

जब यत्न करने पर भी सफलता न हुई, तब उसके पुत्र सुखदयाल की ओर ध्यान दिया। प्रायः बालकराम के घर चले जाते और सुखदयाल को गोद में उठा लेते, चूमते, प्यार करते, पैसे देते। कभी-कभी उठाकर घर भी ले जाते। वहाँ उसे दूध पिलाते, मिठाई खिलाते और बाहर साथ ले जाते। लोगों से कहते—यह अनाथ है, इसे देखकर मेरा हृदय वश में नहीं रहता। उनके पैरों की चाप सुनकर सुखदयाल के चेहरे पर रौनक आ जाती थी। उसके साथ चाचा-चाची घोर निर्दयता का व्यवहार करते थे। और भोलानाथ का उसे प्यार करना, तो उन्हें और भी बुरा लगता था। प्रायः कहा करते, कैसा निर्दयी आदमी है, हमारी कन्याओं के साथ बात भी नहीं करता, कैसी गोरी और सुंदर हैं, जैसे मक्खन के पेड़े, देखने से भूख मिटती है ; परन्तु उसको सुखदयाल के सिवा कोई पसन्द ही नहीं आता। पसन्द नहीं आता, तो न सही ; परन्तु क्या यह भी नहीं हो सकता कि कभी-कभी उनके हाथ पर दो पैसे ही रख दे, जिससे सुखदयाल के साथ उसका व्यवहार देखकर उनका हृदय न मुर्झा जाय ; पर यह बातें भोलानाथ के सामने कहने का उन्हें साहस न होता था। हाँ, उसका क्रोध बेचारे सुखदयाल पर उतरता था ; जल नाचे की ओर बहता है। परिणाम यह हुआ कि सुखदयाल सदैव उदास रहने लगा। उसका मुख-कमल मुर्झा गया। प्रेम, जीवन की धूप है, वह उसे प्राप्त न था। जब कभी भोलानाथ आता, तब उसे पितृ-प्रेम के सुख का अनुभव होने लगता था।

लोहड़ी का दिन था, साँझ का समय। बालकराम के द्वार पर पुरुषों की भीड़ थी, आँगन में स्त्रियों का जमघटा। कोई गाती थीं, कोई हँसती थीं, कोई अग्नि में चावल फेंकती थीं, कोई चिड़वे खाती थीं। तीन कन्याओं के पश्चात् परमात्मा ने पुत्र दिया था। यह उसकी पहली लोहड़ी थी। बालकराम और उसकी स्त्री दोनों आनन्द से प्रफुल्लित थे। बड़े समारोह से त्यौहार मनाया जा रहा था। दस रुपये की मक्की उड़ गई, चिड़वे और रेवड़ी इसके अतिरिक्त; परन्तु सुखदयाल की ओर किसी का भी ध्यान न था। वह घर से बाहर दीवार के साथ खड़ा लोगों की ओर लुब्ध-दृष्टि से देख रहा था कि एकाएक भोलानाथ ने उसके कन्धों पर हाथ रखकर कहा—"सुक्खू!"

सूखे धानों में पानी पड़ गया। सुखदयाल ने पुलकित होकर उत्तर दिया—"चाचा!"

"आज लोहड़ी है, तुम्हारी ताई ने तुम्हें क्या दिया?"

"मक्की"

"और क्या दिया?"

"और कुछ नहीं।"

"और तुम्हारी बहनों को?"

"मिठाई भी दी, संगतरे भी दिये, पैसे भी दिये।"

भोलानाथ के नेत्रों में जल भर आया। भर्राये हुए स्वर से बोले—"हमारे घर चलोगे?"

"चलूँगा"

"कुछ खाओगे ?"

"हाँ खाऊँगा।"

घर पहुँचकर भोलानाथ ने पत्नी से कहा—इसे कुछ खाने को दो। भोलानाथ की तरह उनकी पत्नी भी सुखदयाल से बहुत प्यार करती थी। उसने बहुत-सी मिठाई उसके सम्मुख रख दी। सुखदयाल रुचि से खाने लगा। जब खा चुका, तो चलने को तैयार हुआ। भोलानाथ ने कहा—"ठहरो इतनी जल्दी काहे की है।"

"ताई मारेगी।"

"क्यों मारेगी ?"

"कहेगी, तू चाचा के घर क्यों गया था ?"

"तेरी बहनों को भी मार पड़ती है ?"

"नहीं। उन्हें प्यार करती है।"

भोलानाथ की स्त्री के नेत्र भर आये। भोलानाथ बोले—"जो मिठाई बची है, वह जेब में डाल ले।"

सुखदयाल ने तृपित नेत्रों से मिठाई की ओर देखा और उत्तर दिया—"न।"

"क्यों ?"

"ताई मारेगी और मिठाई छीन लेगी।"

"पहले भी कभी मारा है।":

"हाँ, मारा है।"

"कितनी बार मारा है ?"

"कई बार मारा है।"

"किस तरह मारा है ?"

"चिमटे से मारा है ।"

भोलानाथ के हृदय पर जैसे किसी ने हथौड़ा मार दिया। उन्होंने ठण्डी साँस भरी और चुप हो गये। सुखदयाल धीरे-धीरे अपने घर की ओर रवाना हुआ; परन्तु उसकी बातें ताई के कानों तक उससे पहले जा पहुची थीं। उसके क्रोध की कोई थाह नहीं थी। जब रात्रि अधिक चली गई और गली-मुहल्ले की स्त्रियाँ अपने-अपने घर चली गईं, तो उसने सुखदयाल को पकड़ कर रहा—"क्यों बे कलमुँहे, चाचा से क्या कहता था ?"

सुखदयाल का कलेजा काँप गया। डरते-डरते बोला—"कुछ नहीं कहता था ।"

"तू तो कहता था, ताई मुझे चिमटे से मारती है ।"

बालकराम पास खड़ा था, आश्चर्य्य से बोला—"अच्छा, अब यह छोकरा हमारी मिट्टी उड़ाने पर उतर आया है ।"

सुखदयाल ने आँखों-ही-आँखों ताऊ की ओर देखकर प्रार्थना की कि मुझे इस निर्दयी से बचाओ; परन्तु वहाँ क्रोध बैठा था। आशा ने निराशा का रूप धारण कर लिया। ताई ने कर्कश स्वर से डाँटकर पूछा—

"क्यों, बोलता क्यों नहीं ?"

"अब न कहूँगा"

"अब न कहूँगा। न मरता है, न पीछा छोड़ता है। खाने को देते जाओ, जैसे इसके बाप की जागीर पड़ी है ।"

यह कहकर उसने पास पड़ा हुआ बेलन उठाया। उसे देख-कर सुखदयाल बिलबिला उठा; परन्तु अभी उसके शरीर पर पड़ा न था कि उसकी लड़की दौड़ती हुई आई और कहने लगी—"चाचा आया है।"

(६)

सुखदेवी का हृदय काँप गया। वह बैठी थी, खड़ी हा गइ और बोली—"कौन-सा चाचा? गुजरातवाला?"

"नहीं पालू।"

सुखदेवी और बालकराम दोनों स्तम्भित रह गये। जिस प्रकार बिल्ली को सामने देखकर कबूतर सहम जाता है, उसी प्रकार दोनों सहम गये। आज से दो वर्ष पहले जब पालू साधू बनने के लिए बिदा होने आया था, तब सुखदेबी मन में प्रसन्न हुई थी; परन्तु उसने प्रकट ऐसा किया था, मानों उसका हृदय इस समाचार से टुकड़े-टुकड़े हो गया है। इस समय उसके मन में भय और व्याकुलता थी; परन्तु मुख पर प्रसन्नता की झलक थी। वह जल्दी से बाहर निकली और बोली—"पालू।"

परन्तु वहाँ पालू के स्थान में एक साधु महात्मा खड़े थे, जिनके मुख-मण्डल से तेज की किरणें फूट-फूट कर निकल रही थीं। सुखदेवी के मन को धीरज हुआ; परन्तु एकाएक ख़याल आया, यह तो वही है, वही मुँह, वही आँखें, वही रङ्ग, वही रूप; परन्तु कितना परिवर्त्तन हो गया है। सुख़देवी ने मुसकराकर कहा—"स्वामीजी, नमस्कार करती हूँ।"

इतने में बालकराम अन्दर से निकला और रोता हुआ स्वामीजी से लिपट गया। स्वामीजी भी रोने लगे; परन्तु यह रोना दुःख का नहीं, आनन्द का था। जब हृदय कुछ स्थिर हुआ तो बोले—"भाई, तनिक बाल-बच्चों को तो बुलाओ। देखने को जी तरस गया।"

सुखदेवी अन्दर को चली; परन्तु पाँव मन-मन के भारी हो गये। सोचती थी—यदि बालक सो गये होते, तो कैसा अच्छा होता। सब बातें ढकी रहतीं। अब क्या करूँ, इस बदमाश सुक्खू के वस्त्र इतने मैले हैं कि सामने करने का साहस नहीं पड़ता। आँखें कैसे मिलाऊँगी। रङ्ग में भङ्ग डालने के लिए इसे आज ही आना था। दो वर्ष बाद आया है। इतना भी न हुआ कि पहले पत्र ही लिख देता।

इतने में स्वामी विद्यानन्द अन्दर आ गये। पितृ-वात्सल्य ने लज्जा को दबा लिया था; परन्तु सुखदयाल और भतीजों के वस्त्र तथा उनके रूप-रङ्ग को देखा, तो खड़े-के-खड़े रह गये। भतीजियाँ ऐसी थीं, जैसे चमेली के फूल और सुक्खू, वही सुक्खू जो कभी मैना के समान चहकता फिरता था, जिसकी बातें सुनने के लिए राह जाते लोग खड़े हो जाते थे, जिसकी नटखटी बातों पर प्यार आता था, अब उदासीनता की मूर्ति बना हुआ था। उसका मुँह इस प्रकार कुम्हलाया हुआ था, जिस प्रकार जल न मिलने से वृक्ष कुम्हला जाता है। उसके बाल रूखे थे, और मुँह पर दारिद्र्य बरसता था। उसके वस्त्र मैले-कुचैले थे, जैसे किसी

भिखारी का लड़का हो। स्वामी विद्यानन्द के नेत्रों में आँसू आ गये। सुखदेवी और बालकराम पर घड़ों पानी पड़ गया, खिसियाने-से होकर बोले—"कैसा शरारती है, दिन-रात धूल में खेलता रहता है।"

स्वामी विद्यानन्द सब कुछ समझ गये; परन्तु उन्होंने कुछ प्रकट नहीं किया और बोले—"मैं आज अपने पुराने कमरे में सोऊँगा, एक चारपाई डलवा दो।"

रात्रि का समय था। स्वामी विद्यानन्द सुक्खू को लिये हुए अपने कमरे में पहुँचे। पुरानी बातें ज्यों-की-त्यों याद आ गईं। यही कमरा था, जहाँ प्रेम के पाँसे खेले थे। यहीं पर प्रेम के प्याले पिये थे। इसी स्थान पर बैठकर प्रेम का पाठ पढ़ा था। यही वाटिका थी, जिसमें प्रेम-पवन के मस्त झोंके चलते थे। कैसा आनन्द था, विचित्र काल था, अद्भुत वसन्त-ऋतु थी; जिसने शिशिर के झोंके कभी देखे ही न थे। आज वह वाटिका उजड़ चुकी थी, प्रेम का राज्य लुट चुका था। स्वामी विद्यानन्द के हृदय में हलचल मच गई!

परन्तु सुक्खू का मुख इस प्रकार चमकता था, जैसे ग्रहण के पश्चात् चन्द्रमा। उसे देखकर स्वामी विद्यानन्द ने सोचा—"मैं कैसा मूर्ख हूँ, ताऊ और ताई जब इस पर सख्ती करते होंगे, जब अकारण इसको मारते-पीटते होंगे, जब इसके सामने अपनी कन्याओं से प्यार करते होंगे, उस समय यह क्या कहता होगा, इसके हृदय में क्या विचार उठते होंगे? यही कि मेरा पिता नहीं है, वह मर गया, नहीं तो मैं इस दशा में क्यों रहता। यह फूल

था जो आज धूल में मिला हुआ है। इसके हृदय में धड़कन है, नेत्रों में त्रास है, मुख पर उदासीनता है। वह चञ्चलता जो बच्चों का विशेष गुण है, इसमें नाम को नहीं। वह हठ जो बालकों की सुन्दरता है, इससे बिदा हो चुकी है। यह बाल्यावस्था ही में वृद्धों की नाईं गम्भीर बन गया है। इस अनर्थ का उत्तरदायित्व मेरे सिर है, जो इसे यहाँ छोड़ गया, नहीं तो इस दशा को क्यों पहुँचता।" इन्हीं विचारों में झपकी आ गई, तो क्या देखते हैं कि वही हृषीकेश का पर्वत है, वही कन्दरा। उसमें देवी की मूर्त्ति है और वे उसके सम्मुख खड़े रो-रो कर कह रहे हैं—"माता, दो वर्ष व्यतीत हो गये, अभी तक शान्ति नहीं मिली। क्या यह जीवन रोने ही में बीत जायगा?"

एकाएक ऐसा प्रतीत हुआ जैसे पत्थर की मूर्त्ति के होंठ हिलते हैं। स्वामी विद्यानन्द ने अपने कान उधर लगा दिये। आवाज़ आई—"तू क्या माँगता है, यश?"

"नहीं, मुझे उसकी आवश्यकता नहीं।"

"तो फिर जगत्-दिखावा क्यों करता है?"

"मुझे शान्ति चाहिए।"

"शान्ति के लिए सेवा-मार्ग की आवश्यकता है। पर्वत छोड़ और नगर में जा। जहाँ दुःखी जन रहते हैं, उनके दुःख दूर कर। किसी के घाव पर फाहा रख, किसी के टूटे हुए मन को धीरज बँधा; परन्तु यह रास्ता भी तेरे लिए उपयुक्त नहीं। तेरा पुत्र है, तू उसकी सेवा कर। तेरे मन को शान्ति प्राप्त होगी।"

यह सुनते ही स्वामजी के नेत्रों से पर्दा हट गया। जागे तो वास्तविक भेद उन पर खुल चुका था कि मन की शान्ति कर्त्तव्य के पालन से मिलती है। उन्होंने सुखदयाल को जोर से गले लगाया और उसके रूखे मुँह को चूम लिया।

---

(२) अँधेरी दुनिया

(१)
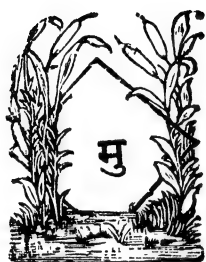
झमें और तुममें बहुत भेद है। तुम सहस्रों दृश्य देखते हो, मैं केवल आवाजें सुनती हूँ। पृथ्वी आकाश, बाग़-बग़ीचे, बादल, चन्द्रमा, तारे यह मेरे लिए ऐसे रहस्य हैं, जो कभी न खुलेंगे। पर्वत और खोह में मेरे निकट एक ही भेद है और वह यह कि पर्वत के ऊपर चढ़ते समय दम फूल जाता है; खोह में उतरते समय गिरने का भय लगा रहता है। जब लोग कहते हैं, यह पर्वत कैसा सुन्दर है वह खोह कैसी भयानक है, तब मैं इन दोनों के अर्थ नहीं समझ सकती। अपने मस्तिष्क पर आत्मा की पूरी शक्ति से जोर डालती हूँ; परन्तु मस्तिष्क काम नहीं करता और मैं सटपटाकर रह जाती हूँ। शस्यश्यामल खेतों की हरियाली, सुनील जल के स्रोतों की सुन्दरता, बच्चों की मनोहरता, पुरुष का सौन्दर्य, स्त्री का रूप-लावण्य, इन्द्र-धनुष का रङ्ग, काली घटा का जादू, चन्द्रमा की छटा, फूलों का निखार, यह समस्त शब्द मेरे निकट विस्तृत और

अन्धकार-मय वायु-मण्डल के भिन्न-भिन्न भागों के नाम हैं। इसके सिवा मैं और कुछ न समझ सकती हूँ, न समझती हूँ। मैं अन्धी हूँ, मेरा संसार एक अँधेरी लम्बी यात्रा है और शब्द उसके पड़ाव हैं। जिस प्रकार कहते हैं, समुद्र की तरंगें उठती हैं और बैठ जाती हैं, उसी प्रकार मेरी इस अँधेरी दुनियाँ में अनेक शब्द उठते हैं और मर जाते हैं। मैं शब्द को जानती हूँ, शब्द को पहचानती हूँ, और उन्हीं की सहायता से सौन्दर्य, जीवन और आयु का अनुमान लगाती हूँ। जब मैं किसी बालक की तोतली बातें सुनती हूँ और जब मेरा हृदय उन्हें पसन्द करता है, तब मैं समझ लेती हूँ कि सुन्दरता इसी मीठी वाणी का नाम है। जब मैं किसी पुरुष को बातें करते पाती हूँ और उसकी बातों में मुझे वह वस्तु प्रतीत होती है, जो कभी चन्द्रमा की चाँदनी में और कभी शीतकाल की धूप में प्रतीत होती है, तब मैं तुरन्त जान लेती हूँ कि जवानी इसी को कहते हैं। और जब मैं किसी काँपती हुई आवाज़ को और उसके अन्दर मर-मर जाते हुए शब्दों को सुनाती हूँ, तब मुझे विश्वास हो जाता है कि यह मनुष्य बूढ़ा है और शनैः-शनैः अपने शब्दों की तरह काँप-काँपकर खुद भी मर रहा है। थोड़े ही दिनों में अपने स्वर के समान स्वयं भी मर जायगा और संसार के लोग जिस प्रकार उसके जीवनकाल में उसकी आवाज़ की परवा नहीं करते थे, ठीक उसी प्रकार मरने के पश्चात् उसकी मृत्यु की परवा नहीं करेंगे। इतना ही नहीं, मैं क्रोध और दुःख, भय और आनन्द, प्रेम और दया, आश्चर्य्य और विस्मय, सब

भावों को शब्द से ही पहचान लेती हूँ। मैं अन्धी हूँ—मेरे कान ही मेरी आँखें हैं।

(२)

मैं पंजाबिन हूँ, परन्तु मेरा नाम बंगालिनों का-सा है। मैंने अपने सिवा किसी दूसरी पंजाबिन लड़की का नाम रजनी नहीं सुना। मेरे पिता उपन्यासों के बहुत शौक़ीन हैं। सुना है, दिन-रात पढ़ते रहते हैं। उन्होंने बंगला का उपन्यास 'रजनी' पढ़ा और फिर मुझे भी रजनी के नाम से पुकारने लगे। इसके पश्चात् मेरा नाम यही प्रसिद्ध हो गया। वे धनवान हैं। उन्हें रुपये-पैसे की कमी नहीं; परन्तु मेरी ओर से प्रायः चिन्तित रहते हैं। मैं भागवान् के घर में आई; परन्तु अभागिन बनकर। मेरे माता-पिता मुझे देखते ही ठण्डी साँस भरकर चुप हो जाते और देर तक बैठे रहते। मैं जान लेती थी कि इस समय मेरे संसार का अन्धकार उनके हृदय के अन्दर समा गया है और उनकी आँखों के आंसू उनके गलों पर बह रहे हैं। मैं उनका दुःख दूर करना चाहती थी; परन्तु मेरे किये कुछ होता न था और मेरी बेबसी मेरे अंधे मुख पर गरमी और लाली के रूप में प्रगट हो जाती थी।

मैं जवान हुई, तो मेरे माता-पिता की चिंता बढ़ने लगी। पहले-पहल तो मुझे उनकी चिंता का कारण मालूम न था; परन्तु थोड़े ही दिनों में सब कुछ समझ गई। वह मेरे ब्याह के लिये चिन्तित थे, सोचते थे—इस अन्धी लड़की से कौन ब्याह करने को तैयार होगा। यह चिन्ता उन्हें अन्दर-ही-अन्दर खाये जाती

थी। सदैव उदास रहते थे। मुझे अपने दुर्भाग्य का पहली बार अनुभव हुआ। इससे पहले मुझे यह कल्पना तक न थी, कि विधाता ने मेरी आँखें छीनकर मुझपर कोई अत्याचार किया है। मैं अपनी अँधेरी दुनिया में प्रसन्न थी; परन्तु अब सोचती थी, क्या जो परमात्मा अन्धा कर सकता है, वह यह नहीं कर सकता कि अन्धे कभी जवान न हों, उनका शरीर कभी बढ़े-फूले। यदि यह हो जाय, तो अन्धे अपने जीवन की भयानकतर विपत्तियों से बच जायँ और उन्हें अपने दुर्भाग्य पर दुःख और क्रोध प्रकट करने की आवश्यकता कभी प्रतीत न हो। मैंने अपने कमरे के दरवाजे बन्द करके, यह प्रार्थना, पता नहीं कितनी बार की; परन्तु उसे परमात्मा ने कभी स्वीकार न किया। यहाँ तक कि मैं परमात्मा और परमात्मा की दया दोनों से निराश होगई और मुझे विश्वास हो गया कि परमात्मा नहीं है, और यदि है, तो अत्याचारी, बेपरवा और निठुर है; परन्तु अब यह विचार बदल गये हैं।

मैं सुन्दरी थी। मेरा मुख, मेरा रङ्ग, मेरा आकार—सब मन को मोह लेनेवाला था। यह मेरा नहीं, मेरी सहेलियों का विचार था। मैं केवल यह जानती थी कि मेरे स्वर में मिठास है। मैं अन्धी हूँ, अपनी तारीफ़ अपने मुख से करना अच्छा नहीं लगता, परन्तु अपना स्वर सुनकर मैं कभी-कभी स्वयं झूमने लग जाती थी। सुना है, हरिण अपनी कस्तूरी की सुगन्ध में प्रमत्त होकर उसे ढूँढ़ता-फिरता है। मैं भी अपने स्वर की सुन्दरता पर, यदि

उसे सुन्दर कहा जा सकता हो, मोहित थी। मैं उसे छूना, हाथों से पकड़ना, हृदय से लगाना चाहती थी ; परन्तु मेरी यह मनोकामना न पूरी हो सकती थी, न होती थी। मैं सुन्दरी थी। मेरा स्वर मीठा था। परन्तु अन्धी की सुन्दरता देखने वाला कोई न था। यह विचार मेरी अपेक्षा मेरे माता-पिता के लिये अधिक दुःखदायी था। जब कभी अकेले होते, मेरे दुर्भाग्य की चर्चा छिड़ जाती। कहते यह उत्पन्न ही क्यों हुई, और जो हुई थी, तो बचपन ही में मर जाती। अब जवान हुई है, वर नहीं मिलता। रूप-रंग देखकर भूख मिटती है ; परन्तु आँखों के अभाव ने काम बिगाड़ दिया। अब क्या करें, परमात्मा ही है, जो बिगड़ी बन जाय। और तो कोई उपाय नहीं है।

यह बातें सुनकर मेरे कलेजे में आग-सी लग जाती थी।

(३)

सायङ्काल था। मैं अपने कमरे में बैठी अपने कर्मों को रो रही थी। एकाएक ऐसा मालूम हुआ, जैसे कोई कमरे में आ गया है। यह मेरे पिता न थे। न माँ थी, न नौकर। मैं उन सबके पैरों की चाप को पहचानती थी। यह क़दम मेरे कानों के लिये नये थे। मैंने सिर का कपड़ा सँभालकर पूछा—

"कौन है ?"

किसी ने उत्तर दिया—"मैं।"

मैं चौंक पड़ी। मेरे शरीर में एक सनसनी-सी दौड़ गई। यह लाला कर्त्ताराम बैरिस्टर के सुपुत्र लाला सीताराम थे। पहले

हमारे यहाँ प्रायः आते-जाते रहते थे। उनसे और मेरे पिताजी से बहुत प्रीति थी। घर की-सी बात थी। उनके रूप-रंग के सम्बन्ध में मैं क्या कह सकती हूँ, हाँ उनकी आवाज़ बहुत सुकोमल और रसीली थी। वे जब बोलते थे, तब मैं तन्मय हो जाती थी। जी चाहता था, उन्हीं की बात सुनती रहूँ। उनमें दिल को खींच लेने की शक्ति थी। मुझे वे दिन कभी न भूलेंगे, जब वे नेम से हमारे घर आते और केवल मेरी बातें किया करते थे। उनकी इच्छा थी और इस इच्छा को उन्होंने कई बार प्रकट भी कर दिया था कि रजनी का ब्याह जल्दी कर देना चाहिए। मेरे पिता कहते, मगर उसे ब्याहना स्वीकार कौन करेगा? यह सुनकर वे चुप हो जाते। फिर थोड़ी देर पीछे ठण्डी साँस भरते और तब उनके उठकर टहलने की आहट सुनाई देती। इस समय वे कैसे व्याकुल, कितने उदासीन होते थे, यह मैं अन्धी भी समझ जाती थी। उनकी इन सहानुभूतियों ने मेरे हृदय-पट पर कृतज्ञता का भाव अङ्कित कर दिया। मैं उनके आने की बाट देखती रहती थी। यदि न आते, तो उदास हो जाती थी। खाने-पीने की सुध न रहती थी। इसी तरह छः महीने निकल गये। इसके पश्चात् उन्होंने हमारे यहाँ आना-जाना छोड़ दिया और आज पूरे एक साल बाद आये। मैं बैठी थी, खड़ी हो गई। इस समय मेरे शरीर का रोम-रोम प्रफुल्लित हो गया। धीरे से बोली—'इतने समय तक कहाँ रहे?'

'यहीं था।'

"बड़े कठोर हो।"

कुछ उत्तर न मिला, मेरा कलेजा धड़कने लगा। ख़याल आया, कहीं बुरा मान गये हों। मैंने क्षमा माँगनी चाही; परन्तु किसी दैवी शक्ति ने जीभ पकड़ ली। उन्होंने थोड़ी देर ठहरकर कहा—"रजनी!"

मैंने यह शब्द उनके मुख से सैकड़ों बार सुना था, परन्तु जो बात इसमें आज थी, वह इससे पहले कभी न थी। स्वर काँप रहा था। जैसे सितार के तार हिल रहे हों। उनमें कैसी मिठास थी, कैसी मोहनी और उसके साथ मिली हुई विकलता और प्रेम। मेरी आत्मा पर मद-सा छा गया। एक क्षण के लिए मैं भूल गई कि मैं अन्धी हूँ। ऐसा जान पड़ता था कि मैं आकाश में उड़ी जा रही हूँ और मेरे चारों ओर कोई मधुर संगीत अलाप रहा है। यह क्षण कैसा सुखद, कैसा अमोलक था, उसे मैं आज तक नहीं भूल सकी। आठ वर्ष बीत चुके हैं। इस सुदीर्घ काल में कई अवसर ऐसे आये, जब मैंने यह अनुभव किया कि मेरी आत्मा इस आनन्द के बोझ को सहन न कर सकेगी; परन्तु यह अवसर उस एक क्षण के आनन्द के सामने तुच्छ है, जब मुझे यह ख्याल न रहा था कि मैं अन्धी हूँ, और मेरी आँखें दुनिया की बहार देखने से वंचित हैं। एकाएक मुझे स्थान, समय और अपनी अवस्था का अनुभव हुआ। मैं अपनी लज्जा के बोझ-तले दब गई और आत्मा की पूरी शक्ति से केवल एक शब्द बोल सकी—

"क्यों?"

"तुम्हारा ब्याह होगा।"

मेरा मुँह लाल हो गया, जैसे किसी ने तमाचा मार दिया हो। फिर भी साहस से बोली—"मैं अन्धी हूँ।"

"फिर?"

"मेरे साथ कौन ब्याह करेगा?"

अब सोचती हूँ कि उस समय ये शब्द कैसे कह दिये थे। परन्तु अन्धी के लिए साहस कोई बड़ी बात नहीं। लज्जा आँखों में होती है। और वह न दूसरे को देख सकती है, न यह जान सकती है कि कोई दूसरा उसे देख रहा है। सीताराम कुछ देर चुप रहे। उनकी यह चुप्पी मेरे लिए संसार का सबसे बड़ा दण्ड था। ऐसा जान पड़ता था कि मेरे भाग्य की परीक्षा हो चुकी है और अब परिणाम निकलने को है। मेरे प्राण होठों तक आ गये। एकाएक वे आगे बढ़े और मेरे मस्तक पर धीरे से अपना हाथ रखकर बोले—"रजनी! तुम्हारे साथ मैं ब्याह करूँगा।"

मेरे सिर से बोझ उतर गया। मालूम होता है, हृदय के भाव मुख पर पढ़े जा सकते हैं; क्योंकि सीताराम ने दूसरे क्षण में मुझे अपने बाहु-पाश में ले लिया और मेरा मुँह प्रेम से बार-बार चूमने लगे।

उस रात मुझे नींद न आई। उसका स्थान आनन्द ने ले लिया था। ऐसे प्रतीत होता था, मानो मैं अपनी अँधेरी दुनिया पर शासन कर रही हूँ, और संसार मेरे प्रेम के अमर संगीत से भरपूर हो चुका है।

एक मास भी न बीतने पाया कि हमारा ब्याह हो गया।

(४)

यह मेरे जीवन का दूसरा परिच्छेद था। इस समय तक मैं शब्द-संसार में बसती थी, अब प्रेम-पथ में पाँव धरे। वे मुझे चाहते थे। मेरे बिना रह न सकते थे। मेरी पूजा करते थे। प्रायः मेरा हाथ अपने हाथ में ले लेते और मेरी प्रशंसा के पुल बाँध देते थे। कहते—मैंने सैकड़ों युवतियाँ देखी हैं; परन्तु तुम-सरीखी सुन्दरी आज तक न देखी है, न देखने की सम्भावना है। मैं पहले-पहल ये बातें सुनकर अपना मुँह हाथों से छिपा लेती थी। परन्तु धीरे-धीरे यह झिझक दूर हो गई, जैसे प्रत्येक विवाहिता रमणी के लिए इस प्रकार की ठकुर-सुहातियाँ सुनना एक साधारण बात हो जाती है। वे मेरे लिए दर्पण का काम देते थे। मैं अपनी आँखों से नहीं, वरन अपने कानों से उनकी बातों में, अ नी प्रशंसा में, अपना रूप-रंग देखकर गर्व से झूमने लग जाती, और समझती कि मुझ-सी सौभाग्यवती स्त्रियाँ संसार में अधिक न होंगी। इस सौभाग्य ने मेरी कइ सिखयाँ बना दीं। मेरा आँगन हास-विलास से गूँजता रहता था; परन्तु इस हास-विलास के अन्दर, इस मधुर-सङ्गीत के नीचे, कभी-कभी व्याकुलता का अनुभव होने लगता था, जैसे बिल्ली के गुदगुदे पैरों में तीक्ष्ण नख छिपे रहते हैं। मैंन अपनी एक-एक सखी से उसके जीवन के गुप्त रहस्य पूछे, और तब मैंने यह तत्त्व समझा कि संसार में प्रत्येक वस्तु वह नहीं, जो (दिखाई नहीं प्रत्युत) सुनाई देती है। न संसार में वह अभागा है जिसे प्रायः अभागा समझा जाता है।

उनकी बातों ने मेरे सुख-मय जीवन को और भी सुख-मय बना दिया। वे मुझसे कभी रुष्ट न होते थे, न कभी बुरा-भला कहते थे। वे इसे मनुष्यत्व से गिरा हुआ समझते थे। सोचते थे, यह मन में क्या कहेगी। मेरे नेत्रों का अभाव मेरे लिये दैवी सुख का कारण बन गया, मेरा काम स्वयं करते थे। मैं रोकती, तो कहते --इससे मुझे आनन्द मिलता है। तुम कुछ ख्याल न करो। संसार की समस्त स्त्रियाँ अपने पतियों को सेवा करती हैं। यदि एक पति अपनी स्त्री का थोड़ा-सा काम कर देगा, तो संसार में प्रलय न आ जायगा। उनके पास रुपया था, कई नौकर रक्खे हुए थे ; परन्तु वे ज़नाने में न आ सकते थे। रोटी बनाने के लिए एक मिसरानी थी मेरा जी बहलाने के लिये एक और स्त्री ; परन्तु फिर भी कई काम ऐसे होते हैं जो गृहिणी को स्वयं करने पड़ते हैं। पर मैं अन्धी थी, इसलिए ऐसे काम वे स्वयं करते थे, और उस समय ऐसे प्रसन्न होते थे, जैसे बच्चे को बढ़िया खिलौने मिल गये हों। उनकी दिलजोइयों ने मुझे उनकी पुजारिन बना दिया। मैं उनकी पूजा करने लगी। सोचती थी, ऐसे मनुष्य भी संसार में थोड़े होंगे। उन्हें मेरी क्या परवा है। चाहें, तो मुझ जैसी बीसियों ख़रीद लें। यह उनके लिए कुछ भी कठिन नहीं ; परन्तु वे फिर भी मुझे चाहते हैं, मानो मैं किसी देश की राजकुमारी हूँ। मैं पहले उनसे प्रेम करती थी, फिर उनकी पूजा करने लगी। प्रेम ने श्रद्धा का रूप धारण कर लिया। मेरा जीवन न था, सुख-मय स्वप्न था, जो भय, अधीरता, अशान्ति और दुःख से कभी नष्ट

नहीं हुआ था। उनके प्रेम ने दैवी त्रुटि पूरी कर दी। वह मेरी अन्धकारमय सृष्टि के प्रदीप थे, उनकी बात-चीत मेरे नीरस जीवन का सरस सङ्गीत। मैं चाहती थी, वे मेरे पास से कहीं उठकर न जायँ। मैं उनके एक-एक पल, एक-एक क्षण पर अधिकार जमाना चाहती थी। जब कभी वे आने में थोड़ी-सी भी देर कर देते, तब मेरा दम घुटने लगता था, मानो कमरे से हवा निकाल दी गई हो। यह व्याकुलता कैसी जीवन-मय है, कैसी प्रेमपूर्ण? इसे साधारण लोग न समझेंगे। इसको केवल वही जान सकते हैं, जिनके हृदय को प्रेम के अन्धे देवता भगवान् कामदेव ने पुष्पों के वाण मार-मारकर घायल कर दिया हैं।

इसी प्रकार पाँच वर्ष का समय, जिसे बेपरवाई और सुख के जीवन ने बहुत छोटा बना दिया था, बीत गया, और मैं एक बच्चे की माँ बन गई। मेरे आनन्द का ठिकाना न था। यह बच्चा मेरी और उनकी परस्पर-प्रीति की जीवित-जाग्रत मूर्त्ति था, जिस पर हम दोनों जी-जान से निछावर थे। यह बच्चा—मैंने सुना—बहुत सुन्दर था। मेरी सखियाँ कहती थीं, तुम रजनी —रात्रि—हो, तुम्हारा बेटा सूरज है। इसका रूप मन को मोह लेता है। जो देखता है, प्रसन्न हो जाता है। मैं यह सुनकर फूली न समाती। हृदय में हर्ष की तरंगे उठने लगतीं, जिस तरह किसी ने बाजे पर हाथ रख दिया हो। फिर पूछती—इसकी आँखें कैसी हैं। वे उत्तर देतीं—बड़ी-बड़ी। हिरन का बच्चा मालूम होता है परमेश्वर ने माँ की कसर बच्चे की आँखों में निकाल दी है।

स्त्री की कई स्थितियाँ हैं। वह बेटी है, बहन है, स्त्री है; परन्तु जो प्रेम उसमें माँ बनकर उत्पन्न होता है, उसकी उपमा इस नश्वर संसार में न मिलेगी। मुझे माता-पिता से प्रेम था; पति पर श्रद्धा। उनको देखने के लिए मैं कभी-कभी अधीर हो उठती थी; परन्तु उस अधीरता की, इस नई अधीरता के साथ कोई तुलना न थी, जो अपने बच्चे का मुख चूमते समय, उसकी आँखों पर हाथ फेरते समय, उसे हृदय से लगाते समय, मेरे नारी-हृदय में उत्पन्न हो जाती थी, उस समय मैं घबराकर खड़ी हो जाती, और परमात्मा के विरुद्ध सैकड़ों शब्द मुख से निकाल देती। मैं चाहती थी, आह! नहीं बता सकती, कितना चाहती थी कि मेरी आँखें एक क्षण के लिए खुल जायँ, और मैं अपने बच्चे को एक नज़र देख लूँ; परन्तु यह इच्छा पूरी न होती थी। मैं अपने दुर्भाग्य को अब अनुभव करने लगी।

(५)

धीरे-धीरे मेरी व्याकुलता ने उन्हें भी उदास कर दिया, जिस तरह एक घर में आग लग गई हो, तो धूआँ दूसरे घर में भी पहुँच जाता है। प्रायः चिन्तित रहने लगे। वे मेरे भावों को समझ गये थे। अब उनके स्वर में वह मनोहरता न थी, न शब्दों में वह सरसता थी। बात-चीत के ढंग में भी अन्तर आ गया था। बोलते-बोलते चुप हो जाते। निस्सन्देह उस समय यदि मेरे नेत्रों से अन्धकार का पर्दा उठ जाता, तो मैं उनके पलकों पर

आँसुओं की बूदों के सिवा और कुछ न देखती। एक दिन बाहर से आये तो घबराये हुए थे। आते ही बोले,—"रजनी।"

मैंने धीरे से उत्तर दिया—"जी।"

"तुम कब अन्धी हुई थीं? मेरा विचार है, तुम जन्म से अन्धी नहीं हो।"

"नहीं।"

"तो तुम्हारी आँखें ख़राब हुए कितना समय हुआ?"

"मैं उस समय तीन वर्ष की थी।"

"तुम्हें अच्छी तरह याद है। तुम्हें विश्वास है?"

"हाँ, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं।"

उन्होंने मुझे खींचकर गले से लगा लिया और बोले—"परमात्मा को धन्यवाद है! एक बार अन्तिम प्रयत्न करूँगा।"

आवाज़ से मालूम होता था, जैसे उनके सिर से कोई बोझ उतर गया है। मैंने उनके मुख पर हाथ फेरते हुए पूछा—"बात क्या है?"

"मैं चाहता हूँ, तुम्हारी आँखें खुल जायँ, तुम भी संसार के अन्य जीवों के समान देखने लगो। मेरे उस समय के आनन्द का कोई अनुमान नहीं लग सकता। आह! यदि ऐसा हो जाय, तो—"

यह कहते-कहते वे अपने काल्पनिक सुख में निमग्न हो गये। थोड़ी देर के बाद फिर बोले—"डाक्टर कहते हैं कि जन्मान्ध के सिवा सबकी आँखें ठीक हो सकती हैं; परन्तु डाक्टर निपुण होना चाहिये। मेरा एक मित्र अमेरिका गया था। आँखें बनाने

सीख कर आया है। थोड़े ही समय में उनकी नाम की दूर-दूर तक धूम मच गई है। आज उनसे भेंट हुई। बड़े प्रेम से मिले और बलात् खींचकर अपने मकान पर ले गये। वहाँ बात-चीत में तुम्हारा ज़िक्र आ गया। बोले—"यदि जन्मान्ध नहीं, तो मैं एक महीने में ठीक कर दूँगा।"

मैं कुछ देर चुप रही और बोली—"रहने दो, मैं अच्छी होकर क्या करूँगी।"

"नहीं, अब मैं अपनी ओर से पूरा-पूरा प्रयत्न करूँगा।"

"मुझे डर है कि मैं—"

"यदि आँखें खुल गईं, तो प्रसन्न हो जाओगी।"

"और यदि प्रयत्न निष्फल गया तो फिर ?"

"भगवान का नाम लो। उसी के हाथ में सबकी लाज है। इस समय सौ से अधिक अन्धों का इलाज कर चुका है; परन्तु एक के सिवा सब उसके गुण गा रहे हैं।"

मैंने धड़कते हुए दिल की धड़कन दबाकर कहा—'ऐसा योग्य है ?"

"योग्य क्या इस युग का धन्वन्तरि है।"

"तो तुम्हें आशा है, मैं देखने लगूँगी ?"

"आशा की क्या बात है। मुझे तो पूरा विश्वास है, कि अब मेरा भाग्य पलटने में देर नहीं।"

मैंने बेटे को हृदय से लगा लिया, और रोने [लगी। हृदय में विचार-तरङ्गें उठने लगीं। अब वहाँ निराशा की शान्ति नहीं रही

थी, उसका स्थान आशामयी अशान्ति ने ले लिया था। मस्तिष्क में सहस्रों विचार आ रहे थे। उनके, पुत्र के, पृथ्वी-आकाश के, फूलों के, सूरज के, चन्द्रमा-तारों के, रूप के विषय में अनुमान के घोड़े दौड़ा रही थी। सोचती थी, आँखें खुल जायँ, तो एक मन्दिर बनवा दूँ, तीर्थ-यात्रा करूँ और अनाथालयों के नाम चन्दा बाँध दूँ। माता-पिता सुनेंगे, तो दंग रह जायँगे, सहेलियाँ बधाई देने आयँगी; परन्तु इस खुशी में एक बड़ा भोज देना आवश्यक हो जायगा। उनकी कितनी उत्कण्ठा है, कि शाम को मुझे साथ लेकर बग्घी पर निकलें; परन्तु नेत्रों का दोष रास्ता रोक लेता है। यदि डाक्टर का परिश्रम सफल हो जाय, तो हाथों के कड़े उतार दूँ और उसकी पत्नी को बुलाकर रेशमी जोड़ा दूँ।

मैं डाक्टर के आने की इस तरह प्रतीक्षा करने लगी, जैसे उसके आने के साथ ही मेरी आँखें खुल जायँगी। आशा ने मस्तिष्क को उलझन में डाल दिया था। एकाएक दरवाजे पर किसी मोटर के आकर रुकने की आवाज़ आई। मेरी देह काँपने लगी। निराशा के विचार ने गला पकड़ लिया। इतने में वे अन्दर आ गये और बोले—"डाक्टर साहब आ गये हैं।"

मैंने साड़ी को सिर पर ठीक कर लिया और सँभलकर हो बैठी; परन्तु हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था। डाक्टर साहब मेरी आंखों को देखने लगे। कुछ देर सन्नाटा रहा और तब उन्होंने किलकारी मारकर कहा—"मुझे पूरा निश्चय है, कि तुम्हारी आँखें बन जायँगी।'

जितना सुख किसी भिखारी को यह सुनकर होता है, कि तुम्हें राज मिल जायगा, उससे अधिक सुख मुझे डाक्टर साहब के इस वचन से हुआ और मैंने हठात् अपने स्थान से उठकर दोनों हाथ बाँधे और उमँड़ते हुए हार्दिक भावों से काँपती हुई आवाज़ में कहा—

"डाक्टर साहब! आपका यह उपकार जन्म-भर न भूलेगा।"

उस समय मेरी आवाज़ में प्रार्थना और प्रफुल्लता के वे अंश मिले हुए थे, जो केवल अपराधियों की ही आवाज़ में पाये जाते हैं। आँखों के खुल जाने की आशा ने वर्षों की शान्ति और संतोष को इस प्रकार उड़ा दिया था; जैसे किसी सेठ के आने से पहले-पहल मालिक-मकान अपने ग़रीब किरायेदार को निठुरता से बाहर निकाल देता है।

(६)

आपरेशन हुआ और बड़ी सफलता से हुआ। वे फूले न समाते थे। कहते थे, अब केवल थोड़े दिनों की बात है, तुम संसार के प्रत्येक दृश्य को देख सकोगी। मेरा सुख पहले अधूरा था, अब पूरा होगा। मुझसे कहते—तुम्हें इस समय तक पता नहीं और यदि पता है, तो तुम पूर्ण रूप से अनुभव नहीं कर सकतीं, कि आँखों का न होना, तुमपर प्रकृति का कैसा अत्याचार था। तनिक यह पट्टी खुल जाने दो, फिर पूछूँगा। एक दिन के लिए आँखें दुखने लगें और अँधेरे में बैठना पड़े, तो कलेजा घबराने लगता है।

जी चाहता है, दरवाजे तोड़कर बाहर निकल जायँ; परन्तु तुम लगातार कई वर्षों से इसी अवस्था में हो और फिर भी—"

मैंने अपनी व्याकुलता से भरी हुई, प्रसन्नता को छिपाने की चेष्टा करते हुए कहा—"तो क्या मैं देखने लगूँगी? यह आपको निश्चय है?"

"निस्सन्देह तेरह दिन के पश्चात्।"

"बहुत प्रसन्न हो रहे होंगे?"

"कुछ न पूछो। मेरा एक-एक क्षण साल-साल के बराबर बीत रहा है। मैं झुँझला उठता हूँ, कि यह समय शीघ्र क्यों नहीं बीत जाता। मैं तेरहवें दिन के लिये पागल हो रहा हूँ।"

"और यदि यह प्रसन्नता, यह आशा निर्मूल सिद्ध हुई, तो?"

"यह नहीं हो सकता,। यह असम्भव है।"

"आशा प्रायः धोखे दिया करती है।"

"परन्तु यह आशा नहीं है।"

सचमुच यह आशा नहीं थी। स्वयं मुझे भी निश्चय था, कि यह आशा नहीं है। फिर भी मैंने उनके हृदय की थाह लेने और अपने विश्वास को और दृढ़ करने के विचार से पूछा—"क्यों?"

"डाक्टर ने कहा है।"

"परन्तु डाक्टर परमात्मा नहीं है।"

थोड़ी देर के लिये वे चुप हो गये, जैसे आनन्द की कल्पना में किसी दुःख का विचार आ जाय, और फिर मेरे दोनों हाथों को

अपने हाथों में दबाकर बोले—"डाक्टर अपनी विद्या में अद्वितीय है। उसका वचन झूठा नहीं हो सकता। मैं इस समय ऐसा प्रसन्न हूँ, जैसे किसी राजा ने इम्पीरियल बैङ्क के नाम चेक दे दिया हो। अब रुपया मिल जाने में कोई सन्देह नहीं है। केवल तेरहवें दिन की प्रतीक्षा है। न राजा दीवालिया हो सकता है, न डाक्टर का वचन झूठा हो सकता है। तुम यों ही अपने सन्देह से मेरे हृदय को विकल कर रही हो।"

बारह दिन बीत गये। अब केवल एक दिन शेष था। सोचती थी, कल क्या होगा? कभी आशा हृदय की कली खिला देती थी, कभी निराशा हृदय में हलचल मचा देती थी। मैंने आँखों पर पट्टी बाँधकर बारह दिन बिता दिये थे, अब एक दिन बिताना कठिन हो गया। जैसे यात्री पड़ाव के निकट पहुँचकर घबरा जाता है। उस समय उसके हृदय में कैसी उद्विग्नता होती है, कैसी अधीरता। वह घण्टों की राह मिनटों में तय करना चाहता है। बार-बार झुँझला उठता है, जैसे किसी ने काँटे चुभो दिये हों। यही दशा मेरी थी। मैं चाहती थी, यह दिन एक क्षण बनकर उड़ जाय और मैं पट्टी आँखों से उतारकर फेंक दूँ; परन्तु प्रकृति के अटल नियम को किसने बदला है। समय ने उसी प्रकार धीरे-धीरे अपने मिनटों के पैरों से चलना जारी रक्खा। उसे मेरी क्या परवा थी?

सायङ्काल था। वे कचहरी से वापस आ गये और सूरजपाल को (यह मेरे बेटे का नाम है) उठाये हुए कमरे के अन्दर आये और मेरे पास बैठकर बोले—"कल इस समय क्या होगा?"

मैंने हाथ बाँधकर ऊपर की ओर सिर उठाया और कहा—

"परमात्मा दया करे।"

"और वह अवश्य करेगा।"

जैसे ढोलक पर हाथ मारने से गूँज उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इस वाक्य से मेरे हृदय में गूँज उत्पन्न हुई। यह गूँज कैसी प्यारी थी, कैसी आनन्ददायक! इसमें दूर के ढोल का सुहावनापन था, स्वप्न-सङ्गीत का जादू। सोचने लगी—क्या यह सम्मोहिनी निकट पहुँचकर भी ऐसी ही बनी रहेगी, क्या यह जादू जागने के पश्चात् भी स्थिर रहेगा? एकाएक उन्होंने कहा—"कैसी गरमी है। बैठना कठिन हो गया।"

मैंने पंखे की रस्सी पकड़ ली और कहा—"पंखा करूँ?"

कमरे में गरमी कोई इतनी अधिक न थी; परन्तु वे बाहर से आये थे, इस लिए उनका दम घुटने लगा। क्रोध से बोले—"पंखा-कुली कहाँ गया। मैं मार-मारकर उसका दम निकाल दूँगा।"

"चलो, जाने दो, बेचारा सारा दिन पंखा खींचता रहता है। थककर जरा बाहर चला गया होगा। खिड़की क्यों न खोल दूँ, सूरज भी घबरा रहा है।"

यह सुनकर वह उछल पड़े, जैसे किसी गठकतरे ने उनकी जेब में हाथ डाल दिया हो, बोले—"क्या कहती हो, खिड़की खोल दूँ। तुम्हें मालूम नहीं कि डाक्टर ने कितना सावधान रहने को कहा है।"

"परन्तु अब तो सायंकाल हो चुका है। कितने बजे होंगे?"

"साढ़े छः बज चुके हैं।"

'तो अब क्या हर्ज़ है ? थोड़ी-सी खिड़की खोल दो, मेरी आँखों पर पट्टी बँधी है।

उन्होंने बहुत कहा ; पर मैंने एक न सुनी और उठकर खिड़की खोल दी। सूरज ने तालियाँ बजाईं और खिलखिलाकर हँसने लगा। उसकी हँसी देखने के लिए मैं अधीर हो गई ; परन्तु आँखों पर पट्टी बँधी थी।

इतने में सूरज खिड़की पर चढ़ गया और खेलने लगा। वह इस समय बहुत ही प्रसन्न था। पंछियों की नाईं चहकता था। उसे कोई विचार, कोई भय, कोई चिन्ता न थी।

"सूरज, शीशा छोड़ दो, टूट जायगा।"

परन्तु सूरज ने अनसुना कर दिया और शीशे के सामने खड़ा होकर अपना मुँह देखने लगा। एकाएक उसने (मैंने पीछे सुना था) शीशे में इस तरह मुँह बनाकर देखा कि वे सहसा चिल्ला उठे—"जरा देखना।"

मुझे अपनी अवस्था का विचार न रहा। मैं भूल गई कि यह समय बड़ा विकट है मैं अन्धी हूँ, मुझे एक दिन के लिए सन्तोप करना चाहिए। इस समय की थोड़ी-सी असावधानी मेरे सारे जीवन को नाश कर देगी और फिर मेरी आँखों को कोई शक्ति किसी उपाय से भी न खोल सकेगी, यह विचार न रहा मैं पागल हो गई। मेरी ऐसी अवस्था आज तक कभी न हुई थी। मेरे हाथ मेरे बस में न रहे। उन्होंने पट्टी को उतारकर भूमि पर फेंक दिया और मैंने आँखें खोलीं।

में देख सकती थी। मैंने एक ही दृष्टि में उनको, बेटे को और खिड़की में से दिखाई देनेवाले बाहर के बाग़ के एक भाग को देखा, और खुशी से चिल्ला उठी—"मैंने तुमको देख लिया।"

उन्होंने आश्चर्य, भय और प्रसन्नता की मिली-जुली दृष्टि से मेरी ओर देखा; परन्तु अभी मेरी आखें उनकी आँखों से मिलने न पाई थीं, कि चारों ओर फिर अन्धकार छा गया और मेरी अँधेरी दुनिया ने उनकी प्यारी-प्यारी सूरतों को फिर अपने अन्दर छिपा लिया। मैंने ठण्डी आह भरी और पछाड़ खाकर गिर पड़ी। बैंक से रुपया मिल गया था और समय से पहले; परन्तु मेरी असावधानी ने उसे पानी में गिरा गिरा दिया।

अब मेरे लिए कोई आशा न थी। मैंने उसके द्वार अपने हाथों से बन्द कर लिए थे। कई दिन तक रोती रही। वे मुझे धीरज देते ते। कहते थे, न सही, तुम जीती रहो, इसी प्रकार निभ जायगी: परन्तु इन धीरज की बातों से मुझको संतोप न हाता था, उलटा मेरे घावों पर नोन छिड़क जाता था। मेरा विचार था कि एक बार आँखें खुल जाने से मैं प्रसन्न हो जाऊँगी, यह झूठ सिद्ध हुआ। एक क्षण की दृष्टि से अपने दुर्भाग्य का दुःखमय अनुभव हो जाता है। इसका अनुमोदन हो गया।

(७)

कहते हैं, प्रत्येक काली घटा के गिर्द सफेदधारी होती है। मेरी विपत्ति अपने साथ एक ज्योति लाई। यह आशा की ज्योति न थी, जो कभी बढ़ती है, कभी घट जाती है। यह नैराश्य

विश्वास की ज्योति थी, जो सदा बढ़ती है, घटती नहीं। मैं पति और पुत्र दोनों को देख चुकी थी। सुना है, फूल सुन्दर होते हैं। यदि यह सच है, तो मैं कह सकती हूँ कि मैंने क्षण-मात्र की दृष्टि में दो अति सुन्दर फूल देखे हैं और उनसे अच्छी वस्तु देखना मेरे लिए सम्भव नहीं। वे आज भी मेरी अन्धकार-मयी सृष्टि में उसी प्रकार हरे-भरे और प्रफुल्लित हैं। उनकी सूरतें मेरे हृदय-पट पर अङ्कित हो चुकी हैं और संसार की कोई शक्ति, कोई वस्तु, कोई सत्ता उन्हें न मिटाती है। यदि मैं अधिक मनुष्य देख लेती, तो कदाचित् मुझे कभी-कभी उनका विचार आ जाता और वे भी मेरे हृदय की चित्रशाला में थोड़े-से स्थान पर अङ्कित हो जाते। अथवा उनके चेहरों पर मेरे पति और पुत्र के चेहरों की रूप रेखाएँ अस्त-व्यस्त हो जातीं; परन्तु अब यह आशङ्का नहीं रही। मैंने बाहर की ओर से आँख बन्द करके उन दो सुन्दर मूर्त्तियों को अपने हृदय में अमर जीवन दे दिया है।

कुछ समय के बाद नगर में चेचक फूट पड़ी। सूरजपाल रोके न रुकता था। दौड़-दौड़कर बाहर चला जाता था। वे कहते थे, इसे बाहर न निकलने दो, यह मेरे जीवन का आधार है, यदि इसे कुछ हो गया, तो मेरा जीवन नष्ट हो जायगा; परन्तु बच्चे के पैरों में जंजीर किसने डाली है। वह नौकरों की आँखें बचाकर निकल जाता और कई-कई घण्टे लड़कों के साथ खेलता रहता था। अन्त में उसे भी इस रोग ने जकड़ लिया। वे घबरा गये, जैसे उन पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा हो। दिन-रात पास बैठे

रहते। उन्होंने कचहरी जाना छोड़ दिया था। कहते थे—परमात्मा करे, मैं इस मुकदमे में जीत जाऊँ। मैं और कुछ नहीं चाहता, मेरा बच्चा बच जाय। जिस प्रकार हिरन अपने बच्चे को बचाने के लिये स्वयं अपने आप को मृत्यु के मुँह में दे देता है, उसी प्रकार उन्होंने सूरजपाल की खातिर अपना जीवन ख़तरे में डाल दिया। हर समय उसके साथ लेटे रहते थे। परिणाम यह हुआ कि सूरज पाल की सेवा-सुश्रपा करते-करते आप भी बीमार हो गये। अब मेरे व्याकुल हृदय में तूफान उठने लगे। मेरे पास केवल फूल थे। और उन दोनों को, प्रकृति का निर्दयी हाथ, तोड़ने के पीछे पड़ा था; परन्तु मैंने अपनी जान लड़ा दी, और अपने दिखाई देनेवाले समान दिन-रात को उनकी सेवा में एक कर दिया। और परमात्मा ने मुझ अबला के परिश्रम को सफल किया—दोनों नीरोग हो गये।

मेरे आनन्द का ठिकाना न था। आँगन में उछलती फिरती थी, जैसे किसी का डूबा हुआ धन मिल जाय। उन्होंने आकर कृतज्ञता के भाव से मेरा हाथ अपने निर्बल हाथ में लिया और धीरे से कहा—"तुमने हमें मृत्यु के मुख से खींचा है, नहीं तो।"

मैंने उनके मुँह पर हाथ रख दिया और कहा—"बस, इसके आगे एक शब्द भी न कहो। मेरे कान यह सुनने की शक्ति नहीं रखते।"

वे चुप हो गये; परन्तु थोड़ी देर के बाद मुझे मालूम हुआ कि वे रो रहे हैं। मेरे हाथ पर पानी की दो गरम बूँदें टपकीं।

"क्यों, रोते क्यों हो ? अब तो कोई ख़तरा नहीं ।"

यह सुनकर वह सिसकियाँ भर-भरकर रोने लगे। मैं उनके गले से लिपट गई, जिस प्रकार सूरजपाल मेरे गले से लिपट जाया करता है। मैंने पूछा—"तुम बताओ, तुम क्यों रो रहे हो ? मेरा कलेजा फट जायगा ।"

उन्होंने उत्तर देने की चेष्टा की; परन्तु उनके प्रत्येक शब्द को उनकी लगातार सिसकियों ने इस प्रकार निगल लिया, जिस प्रकार किसी अन्धी लड़की की नेत्र-कल्पनाओं को व्याकुलता निगल जाती है। वे रो रहे थे। जब दुःख का बोझ हलका हुआ और उनकी जिह्वा को बोलने की शक्ति प्राप्त हुई, तब उन्होंने मेरा हाथ अपने मुँह पर रख लिया और रुक-रुककर कहा—"यदि तुम देख सकतीं, तो तुम्हें ऐसा दृश्य दिखाई देता कि तुम मूर्च्छित हो जातीं।"

मैं कुछ समझ न सकी, मस्तिष्क पर ज़ोर देते हुए बोली—"तुम्हारा क्या अभिप्राय है। साफ़-साफ़ कहो ।"

"मेरी और तुम्हारे सूरजपाल की सूरत ऐसी बदल गई है कि देखकर डर लगता है।"

यह कहकर वह चुप हो गये।

मैं बैठी थी, खड़ी हो गई और चिल्लाकर बोली—"परन्तु मेरी आँखों में जो तुम्हारी सूरतें समा चुकी हैं, उन्हें कौन बदल सकता है। संसार की आँखों में तुम बदल जाओ; परन्तु मेरी आँखों में तुम सदा वैसे ही सुन्दर, वैसे ही मनोहर हो। मैं सोचती थी, परमात्मा ने दूसरी बार मेरी आँखें छीनकर मुझ पर

अन्याय किया है; परन्तु आज मालूम हुआ कि इस अन्याय के परदे में उसकी अपार दया छिपी थी।"

यह कहकर मैंने उनके गले में भुजाएँ डाल दीं और उनके बाला में धीरे-धीरे अपनी अँगुलियाँ फेरने लगी।

इस समय मेरे अँधेरी दुनियाँ में ऐसा प्रकाश था, जो बयान नहीं किया जा सकता।

३—पं० चतुरसेन शास्त्री

आप देहली के निवासी हैं। आपकी रचनायें अधिकतर गद्य-काव्य-मयी होती हैं, माधुर्य में डूबी हुई। मनोभावों का विश्लेषण करने में आप सिद्ध-हस्त हैं। आपकी भाषा बहुत परिमार्जित और भाव शृङ्गार-मय होते हैं। 'अन्तस्तल' आपका एक गद्य-काव्य है। "हृदय की प्यास" नाम का रोचक उपन्यास भी आपने लिखा है।

दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी

(१)
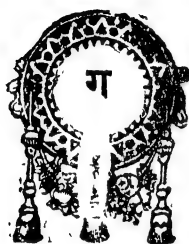
र्मी के दिन थे। बादशाह ने उसी फागुन में सलीमा से नई शादी की थी। सल्तनत के सब झंझटों से दूर रहकर नई दुलहिन के साथ प्रेम और आनन्द की कलोल करने वह सलीमा को लेकर काश्मीर के दौलतखाने में चले आए थे।

रात दूध में नहा रही थी। दूर के पहाड़ों की चोटियाँ बर्फ़ से सफ़ेद होकर चाँदनी में बहार दिख रही थीं आरामबाग़ के महलों के नीचे पहाड़ी नदी, बल खाकर बह रही थी।

मोतीमहल के एक कमरे में शमादान जल रहा था, और उसकी खुली खिड़की के पास बैठी सलीमा रात का सौंदर्य निहार रही थी। खुले हुए बाल उसकी फ़ीरोज़ी रंग की ओढ़नी पर खेल रहे थे। चिकन के काम से सजी और मोतियों से गुँथी हुई उस फ़रोज़ी रंग की ओढ़नी पर, कसी हुई कमख़ाब की कुरती और पन्नों की कमरपेटी पर, अंगूर के बराबर बड़े मोतियों की माला

झूम रही थी। सलीमा का रंग भी मोती के समान था। उसकी देह की गठन निराली थी। संगमर्मर के समान पैरों में ज़री के काम के जूते पड़े थे, जिन पर दो हीरे धक्-धक् चमक रहे थे।

कमरे में एक क़ीमती ईरानी क़ालीन का फ़र्श बिछा हुआ था, जो पैर रखते ही हाथ-भर नीचे धँस जाता था। सुगन्धित मसालों से बने हुए शमादान जल रहे थे। कमरे में चार पूरे क़द के आईने लगे थे। संगमर्मर के आधारों पर, सोने-चाँदी के फूलदानों में, ताजे फूलों के गुलदस्ते रक्खे थे। दीवारों और दरवाज़ों पर चतुराई से गूथी हुई नागकेसर और चम्पे की मालायें झूम रही थीं, जिनकी सुगन्ध से कमरा महक रहा था। कमरे में अनगिनत बहुमूल्य कारीगरी की देश-विदेश की बस्तुएँ क़रीने से सजी हुई थीं।

बादशाह दो दिन से शिकार को गये थे। आज इतनी रात गई, अभी तक नहीं आये। सलीमा चाँदनी दूर तक आँखें बिछाये सवारों की गर्द देखती रही। आखिर उससे स्थिर न रहा गया। वह खिड़की से उठकर, अनमनी-सी होकर मसनद पर आ बैठी। उम्र और चिन्ता की गर्मी जब उससे सहन न हुई, तब उसने अपनी चिकन की ओढ़नी भी उतार फेंकी और आप-ही-आप झुँझलाकर बोली—"कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अब क्या करूं ?" इसके बाद उसने पास रक्खी बीन उठा ली। दो-चार अँगुली चलाईं ; मगर स्वर न मिला ! उसने भुनभुनाकर कहा—"मर्दों की तरह यह भी मेरे वश में नहीं है।" सलीमा ने उकताकर उसे रखकर दस्तक दी। एक बाँदी दस्तबस्ता आ हाज़िर हुई।

बाँदी अत्यन्त सुन्दरी और कमसिन थी। उसके सौंदर्य में एक गहरे विषाद की रेखा और नेत्रों में नैराश्य की स्याही थी। उसे पास बैठने का हुक्म देकर सलीमा ने कहा—"साक़ी, तुझे बीन अच्छी लगती है या बाँसुरी ?"

बाँदी ने नम्रता से कहा—"हुजूर जिसमें खुश हों।।"

सलीमा ने कहा—"तू किस में खुश है ?"

बाँदी ने कम्पित स्वर में कहा—"सरकार! बाँदियों की खुशी ही क्या ?"

क्षण भर सलीमा ने बाँदी के मुँह की तरफ़ देखा—वैसा ही विषाद, निराशा और व्याकुलता का मिश्रण हो रहा था!

सलीमा ने कहा—"मैं क्या तुझे बाँदी की नज़र से देखती हूँ ?"

"नहीं, हज़रत की तो लौंडी पर ख़ास मेहरबानी है।"

"तब तू इतनी उदास झिझकी हुई और एकान्त में क्यों रहती है ? जब से तू नौकर हुई है, ऐसी ही देखती हूँ! अपनी तकलीफ़ मुझ से तो कह प्यारी साक़ी!"

इतना कहकर सलीमा ने उसके पास खिसककर उसका हाथ पकड़ लिया।

बाँदी काँप गई; पर बोली नहीं।

सलीमा ने कहा—"क़समिया! तू अपना दर्द मुझसे कह, तू इतनी उदास क्यों रहती है ?"

बाँदी ने कम्पित स्वर से कहा—"हूजूर क्यों इतनी उदास रहती हैं ?"

सलीमा ने कहा—"इधर जहाँपनाह कुछ कम आने लगे हैं। इसी से तबीयत ज़रा उदास रहती है।"

बाँदी—"सरकार! प्यारी चीज़ न मिलने से इंसान को उदासी आ ही जाती है। अमीर और गरीब, सभी का दिल तो दिल ही है।"

सलीमा हँसी। उसने कहा—"समझी, तब तू किसी को चाहती है? मुझे उसका नाम बता, मैं उसके साथ तेरी शादी करा दूँगी"

साक़ी का सिर घूम गया। एकाएक उसने बेगम की आँखों से आँख मिलाकर कहा—"मैं आपको चाहती हूँ!"

सलीमा हँसते-हँसते लोट गई। उस मदमाती हँसी के वेग में उसने बाँदी का कम्पन नहीं देखा। बाँदी ने वंशी लेकर कहा—"क्या सुनाऊँ?"

बेगम ने कहा—"ठहर" कमरा बहुत गर्म मालूम देता है। इसके तमाम दरवाजे और खिड़कियाँ खोल दे। चिरागों को बुझा दे, चटख़ती चाँदनी का लुत्फ़ उठाने दे, और वे फूल मालाएँ मेरे पास रख दे।"

बाँदी उठी। सलीमा बोली—"सुन, पहले एक ग्लास शरबत दे, बहुत प्यासी हूँ।"

बाँदी ने सोने के ग्लास में ख़ुशबूदार शरबत बेगम के सामने ला धरा। बेगम ने कहा—"उफ् यह तो बहुत गर्म है। क्या इसमें गुलाब नहीं दिया?"

बाँदी ने नम्रता से कहा—"दिया तो है सरकार!"

"अच्छा इसमें थोड़ा सा इस्तम्बोल और मिला।"

साक़ी ग्लास लेकर दूसरे कमरे में चली गई। इस्तम्बोल मिलाया, और भी एक चीज़ मिलाई। फिर वह सुवासित मदिरा का पात्र बेगम के सामने ला धरा।

एक ही सांस में उसे पीकर बेगम ने कहा—"अच्छा, अब सुना। तूने कहा था कि तू मुझे प्यार करती है; सुना, कोई प्यार का गाना सुना।"

इतना कह और ग्लास को ग़लीचे पर लुढ़काकर मदमाती सलीमा उस कोमल मख़मली मसनद पर खुद भी लुढ़क गई, और रस-भरे नेत्रों से साक़ी की ओर देखने लगी। साक़ी ने वंशी का सुर मिलाकर गाना शुरू किया—

"दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी..."

बहुत देर तक साक़ी की वंशी और कण्ठ-ध्वनि कमरे में घूम-घूमकर रोती रही। धीरे-धीरे साक़ी खुद रोने लगी। साक़ी मदिरा और यौवन के नशे में चूर होकर झूमने लगी।

गीत ख़तम करके साक़ी ने देखा, सलीमा बेसुध पड़ी है। शराब की तेज़ी से उसके गाल एकदम सुर्ख़ हो गये हैं, और ताम्बूल-राग-रञ्जित होंठ रह-रहकर फड़क रहे हैं। साँस की सुगन्ध से कमरा महक रहा है। जैसे मन्द-पवन से कोमल पत्ती काँपने लगती है, उसी प्रकार सलीमा का वक्षःस्थल धीरे-धीरे काँप रहा है। प्रस्वेद की बूँदें ललाट पर दीपक के उज्ज्वल प्रकाश में, मोतियों की तरह चमक रही हैं।

वंशी रखकर साक़ी क्षण-भर बेगम के पास आकर खड़ी हुई। उसका शरीर काँपा, आँखें जलने लगीं, कण्ठ सूख गया। वह घुटने के बल बैठकर बहुत धीरे-धीरे अपने आँचल से बेगम के मुख का पसीना पोंछने लगी। इसके बाद उसने झुककर बेगम का मुँह चूम लिया।

इसके बाद ज्योंही उसने अचानक आँख उठाकर देखा, खुद दीन-दुनिया के मालिक शाहजहाँ खड़े उसकी यह करतूर अचरज और क्रोध से देख रहे हैं।

साक़ी को साँप डस गया। वह हत-बुद्धि की तरह बादशाह का मुँह ताकने लगी। बादशाह ने कहा—"तू कौन है? और यह क्या कर रही थी?"

साक़ी चुप खड़ी रही। बादशाह ने कहा—"जवाब दे!"

साक़ी ने धीमे स्वर में कहा—"जहाँपनाह! कनीज़ अगर कुछ जवाब न दे, तो?"

बादशाह सन्नाटे में आ गये। बाँदी की इतनी स्पर्धा!

उन्होंने कहा—"मेरी बात का जवाब नहीं? अच्छा तुझे नंगी करके कोड़े लगाए जाँयगे!"

साक़ी ने कम्पित स्वर में कहा—"मैं मर्द हूँ!"

बादशाह की आँखों में सरसों फूल उठी, उन्होंने अग्नि-मय नेत्रों से सलीमा की ओर देखा। वह बेसुध पड़ी सो रही थी। उसी तरह उसका भरा यौवन खुला पड़ा था। उनके मुँह से निकला—"उफ़ फ़ाहशा!" और तत्काल उनका हाथ तलवार की मूठ पर

गया। फिर नीचे को उन्होंने घूमकर कहा—"दोज़ख के कुत्ते! तेरी यह मजाल!"

फिर कठोर स्वर से पुकारा—"मादूम!"

क्षण-भर में एक भयंकर रूपवाली तातारी औरत बादशाह के सामने अदब से आ खड़ी हुई। बादशाह ने हुक्म दिया—"इस मर्दूद को तहखाने में डाल दे; ताकि बिना खाए-पिए मर जाय।"

मादूम ने अपने कर्कश हाथों में युवक का हाथ पकड़ा, और ले चली। थोड़ी देर में दोनों एक लोहे के मज़बूत दरवाज़े के पास आ खड़े हुए। तातारी बाँदी ने चाभी निकाल दरवाजा खोला, और कैदी को भीतर ढकेल दिया। कोठरी की गच क़ैदी का बोझ ऊपर पड़ते ही काँपती हुई नीचे को धसकने लगी!

(२)

प्रभात हुआ। सलीमा की बेहोशी दूर हुई। चौंककर उठ बैठी। बाल सँवारे, ओढ़नी ठीक की, और चोली के बटन कसने को आईने के सामने जा खड़ी हुई। खिड़कियाँ बन्द थीं। सलीमा ने पुकारा—"साक़ी! प्यारी साक़ी! बड़ी गर्मी है, ज़रा खिड़की तो खोल दो। निगोड़ी नींद ने तो आज ग़ज़ब ढा दिया। शराब कुछ तेज़ थी।"

किसी ने सलीमा की बात न सुनी। सलीमा ने ज़रा ज़ोर से पुकारा—"साक़ी!"

जवाब न पाकर सलीमा हैरान हुई। वह खुद खिड़की खोलने

लगी। मगर खिड़कियाँ बाहर से बन्द थीं। सलीमा ने विस्मय से मन-ही-मन कहा—"क्या बात है? लौंड़ियाँ सब क्या हुईं?"

वह द्वार की तरफ चली! देखा, एक तातारी बाँदी नंगी तलवार लिए पहरे पर मुस्तैद खड़ी है। बेगम को देखते ही उसने सिर झुका लिया।

सलीमा ने क्रोध से कहा—"तुम लोग यहाँ क्यों हो?"

"बादशाह के हुक्म से।"

"क्या बादशाह आ गये?"

"जी हाँ।"

"मुझे इत्तिला क्यों नहीं की?"

"हुक्म नहीं था।"

"बादशाह कहाँ हैं?"

"ज़ीनतमहल के दौलतख़ाने में।"

सलीमा के मन में अभिमान हुआ। उसने कहा—

"ठीक है, खुबसूरती की हाट में जिनका कारबार है, वे मुहब्बत को क्या समझेंगे? तो अब ज़ीनतमहल की किस्मत खुली?"

तातारी स्त्री चुपचाप खड़ी रही। सलीमा फिर बोली—"मेरी साकी कहाँ है?"

"कैद में!"

"क्यों?"

"जहाँपनाह का हुक्म।"

"उसका कुसूर क्या था!"

"मैं अर्ज नहीं कर सकती।"

"कैदखाने की चाभी मुझे दे, मैं अभी उसे छुड़ाती हूँ।"

"आपको अपने कमरे से बाहर जाने का हुक्म नहीं है।"

"तब क्या मैं भी कैद हूँ ?"

"जी हाँ।"

सलीमा की आँखों में आँसू भर आए। वह लौटकर मसनद पर पड़ गई, और फूट-फूट कर रोने लगी, कुछ ठहरकर उसने एक खत लिखा—

"हुजूर ! मेरा कुसूर माफ़ फ़र्मावें। दिन भर की थकी होने से ऐसी बेसुध सो गई कि हुजूर के इस्तक़बाल में हाज़िर न रह सकी। और, मेरी उस प्यारी लौंड़ी की भी जाँ-बख्शी की जाय। उसने हुजूर के दौलतखाने में लौट आने की इत्तिला मुझे वाजिबी तौर पर न देकर बेशक भारी कुसूर किया है ; मगर वह नई, कमसिन, ग़रीब और दुखिया है।

कनीज़

सलीमा"

चिट्ठी बादशाह के पास भेज दी गई। बादशाह की तबीयत बहुत ही नासाज़ थी। तमाम हिन्दुस्तान के बादशाह की औरत फ़ाहशा निकले ! बादशाह अपनी आँखों से परपुरुष को उसका मुँह चूमते देख चुके थे ! वह गुस्से से तलमला रहे थे, और ग़म गलत करने को अन्धाधुन्ध शराब पी रहे थे। ज़ीनतमहल मौक़ा

देखकर सौतिया डाह का बुखार निकाल रही थी। तातारी बाँदी को देखकर बादशाह ने आग होकर कहा—"क्या लाई है ?"

बाँदी ने दस्तबस्ता अर्ज की—"खुदावंद ! सलीमा बीबी की अर्ज़ी है।"

इतना कहकर उसने सामने खत रख दिया।

बादशाह ने गुस्से से होंठ चबाकर कहा—"उससे कह दे कि मरजाय।" इसके बाद खत में एक ठोकर मारकर उन्होंने उधर से मुँह फेर लिया।

बाँदी लौट आई। बादशाह का जवाब सुनकर सलीमा धरती पर बैठ गई। उसने बाँदी को बाहर जाने का हुक्म दिया, और दरवाज़ा बन्द करके फूट-फूट कर रोई घंटों बीत गए, दिन छिपने लगा। सलीमा ने कहा—"हाय ! बादशाहों की बेगम होना भी क्या बदनसीबी है ! इन्तज़ारी करते-करते आँख फूट जायँ, मिन्नतें करते-करते ज़बान घिस जाय, अदब करते-करते जिस्म टुकड़े-टुकड़े हो जाय, फिर भी इतनी-सी बात पर कि मैं ज़रा सो गई, उनके आने पर जाग न सकी, इतनी सजा ? इतनी बेइज्ज़ती ?

तब मैं बेगम क्या हुई ? ज़ीनत और बाँदियाँ सुनेंगी, तो क्या कहेंगी ? इस बेइज्ज़ती के बाद मुँह दिखाने लायक़ कहाँ रही ? अब तो मरना ही ठीक है। अफ़सोस ! मैं किसी ग़रीब किसान की औरत क्यों न हुई !"

धीरे-धीरे स्त्रीत्व का तेज उसकी आत्मा में उदय हुआ। गर्व

और दृढ़ प्रतिज्ञा के चिह्न उसके नेत्रों में छा गए। वह साँपिन की तरह चपेट खाकर उठ खड़ी हुई। उसने एक और ख़त लिखा—

"दुनिया के मालिक! आपकी बीबी और कनीज़ होने की वजह से मैं आपके हुक्म को मानकर मरती हूँ। इतनी बेइज्ज़ती पाकर एक मलिका का मरना ही मुनासिब भी है। मगर इतने बड़े बादशाह को औरतों को इस क़दर नाचीज़ तो न समझना चाहिए कि एक अदना सी बेवकूफ़ी की इतनी बड़ी सज़ा दी जाय। मेरा कुसुर सिर्फ इतना ही था कि मैं बेख़बर सो गई थी। खैर, सिर्फ़ एक बार हुजूर को देखने की ख्वाहिश लेकर मरती हूँ। मैं उस पाक परवर्दिगार के पास जाकर अर्ज़ करूँगी कि वह मेरे शौहर को सलामत रक्खे।

सलीमा"

खत को इत्र से सुवासित करके ताजे फूलों के एक गुलदस्ते में इस तरह रख दिया कि जिससे किसी की उस पर फ़ौरन ही नज़र पड़ जाय। इसके बाद उसने जवाहरात की पेटी से एक बहुमूल्य अँगूठी निकाली, और कुछ देर तक आँख गड़ा-गड़ाकर उसे देखती रही। फिर उसे चाट गई!

(३)

बादशाह शाम की हवाख़ोरी को नज़र-बाग में टहल रहे थे। दो-तीन खोजे घबराए हुए आए, और चिट्ठी पेश करके अर्ज की—"हुजूर, ग़ज़ब हो गया! सलीमा बीबी ने ज़हर खा लिया है, और वह मर रही हैं।"

क्षण-भर में बादशाह ने खत पढ़ लिया। झपटे हुए सलीमा के महल में पहुँचे। प्यारी दुलहिन सलीमा ज़मीन में पड़ी है। आँखें ललाट पर चढ़ गई हैं। रंग कोयले के समान हो गया है। बादशाह से रहा न गया। उन्होंने घबराकर कहा—'हकीम' हकीम को बुलाओ! कई आदमी दौड़े।"

बादशाह का शब्द सुनकर सलीमा ने उनकी तरफ देखा, और धीमें स्वर में कहा—"ज़हे क़िस्मत!"

बादशाह ने नज़दीक बैठकर कहा—"सलीमा! बादशाह की बेगम होकर क्या तुम्हें यही लाज़िम था?"

सलीमा ने कष्ट से कहा—"हुज़ूर मेरा कुसूर बहुत मामूली था"

बादशाह ने कड़े स्वर में कहा—"बदनसीब! शाही ज़नान खाने में मर्द को भेष बदलकर रखना मामूली कुसूर समझती है? कानों पर यक़ीन कभी न करता; मगर आँखों देखो को भी झूठ मान लूँ?"

जैसे हज़ारों बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने से आदमी तड़पता है, उसी तरह तड़पकर सलीमा ने कहा—"क्या?"

बादशाह डरकर पीछे हट गए। उन्होंने कहा—"सच कहो, इस वक्त तुम खुदा की राह पर हो, यह जवान कौन था?"

सलीमा ने अकचकाकर पूछा—"कौन जवान?"

बादशाह ने गुस्से से कहा—"जिसे तुमने साक़ी बनाकर पास रक्खा था?"

सलीमा ने घबराकर कहा—"हैं! हैं क्या वह मर्द है?"

बादशाह—"तो क्या तुम सचमुच यह बात नहीं जानतीं ?"

सलीमा के मुँह से निकला—"या खुदा !"

फिर उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे। वह सब मामला समझ गई। कुछ देर बाद बोली—"खाविन्द ! तब तो कुछ शिकायत ही नहीं ; इस कुसूर की तो यही सज़ा मुनासिब थी। मेरी बदगुमानी माफ़ फ़रमाई जाय। मैं अल्लाह के नाम पर पड़ी कहती हूँ, मुझे इस बात का कुछ भी पता नहीं है।"

बादशाह का गला भर आया। उन्होंने कहा—"तो प्यारी सलीमा ! तुम बेकुसूर ही चलीं ?" बादशाह रोने लगे।

सलीमा ने उनका हाथ पकड़कर अपनी छाती पर रखकर कहा—"मालिक मेरे ! जिसकी उम्मीद न थी, मरते वक्त वह मज़ा मिल गया। कहा-सुना माफ हो, और एक अर्ज़ लौंडी की मंजूर हो।"

बादशाह ने कहा—"जल्दी कहो सलीमा !"

सलीमा ने साहस से कहा—"उस जवान को माफ़ कर देना।"

इसके बाद सलीमा की आंखों से आंसू बह चले, और थोड़ी ही देर में वह ठंडी हो गई !

बादशाह ने घुटनों के बल बैठकर उसका ललाट चूमा, और फिर बालक की तरह रोने लगे।

(४)

ग़ज़ब के अँधेरे और सर्दी में युवक भूखा-प्यासा पड़ा था। एकाएक घोर चीत्कार करके किवाड़े खुले। प्रकाश के साथ ही

एक गम्भीर शब्द तहखाने में भर गया—"बदनसीब नौजवान! क्या होश-हवास में है?"

युवक ने तीव्र स्वर में पूछा—"कौन?"

जवाब मिला—"बादशाह"

युवक ने कुछ भी अदब किये बिना कहा—"यह जगह बादशाहों के लायक़ नहीं है—क्यों तशरीफ़ लाये हैं?"

"तुम्हारी कैफियत नहीं सुनी थी, उसे सुनने आया हूँ।"

कुछ देर चुप रहकर युवक ने कहा—"सिर्फ सलीमा को झूठी बदनामी से बचाने के लिये कैफीय देता हूँ, सुनिए—सलीमा जब बच्ची थी, मैं उसके बाप का नौकर था। तभी से मैं उसे प्यार करता था। सलीमा भी प्यार करती थी; पर वह बचपन का प्यार था। उम्र होने पर सलीमा परदे में रहने लगी, और फिर वह शाहंशाह की बेगम हुई। मगर मैं उसे भूल न सका। पाँच साल तक पागल की तरह भटकता रहा। अन्त में भेष बदलकर बाँदी की नौकरी कर ली। सिर्फ उसे देखते रहने और ख़िदमत करके दिन गुज़ार देने का इरादा था। उस दिन उज्ज्वल चाँदनी, सुगन्धित पुष्पराशि, शराब की उत्तेजना और एकान्त ने मुझे बेबस कर दिया। उसके बाद मैंने आँचल से उसके मुख का पसीना पोंछा, और मुँह चूम लिया। मैं इतना ही खतावार हूँ। सलीमा इसकी बाबत कुछ नहीं जानती।"

बादशाह कुछ देर चुप-चाप खड़े रहे। इसके बाद वह बिना ही दरवाज़ा बन्द किए धीरे-धीरे चले गए!

(५)

सलीमा की मृत्यु को दस दिन बीत गए। बादशाह सलीमा के कमरे में ही दिन-रात रहते हैं। सामने नदी के उस पार, पेड़ों के झुरमुट में सलीमा की सफ़ेद क़ब्र बनी है। जिस खिड़की के पास सलीमा बैठी उस रात को बादशाह की प्रतीक्षा कर रही थी, उसी खिड़की में, उसी चौकी पर बैठे हुए बादशाह उसी तरह सलीमा की क़ब्र दिन-रात देखा करते हैं। किसी को पास आने का हुक्म नहीं। जब आधी रात हो जाती है, तो उस गम्भीर रात्रि के सन्नाटे में एक मर्म-भेदिनी गीत-ध्वनि उठ खड़ी होती है। बादशाह साफ़-साफ़ सुनते हैं, कोई करुण-कोमल स्वर में गा रहा है—

"दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी ?"

४—श्रीप्रेमचन्द

आप काशी के रहने वाले हैं। आपने कानपुर के उर्दू-पत्र "ज़माना" में लेख लिखना शुरू किया। आपकी "प्रेम-पच्चीसी" और "सोज़ेवतन" यह दोनों प्रथम ज़माना ही से प्रकाशित हुई। सन् १९१४ से आप हिन्दी में लिख रहे हैं। आपके कई उपन्यास "सेवा-सदन", "वरदान", "काया-कल्प", "प्रेमाश्रम", "रंग-भूमि", "प्रतिज्ञा" तथा "ग़बन" आदि प्रसिद्ध हो चुके हैं। आपकी कहानियों के कई संग्रह निकल चुके हैं—"प्रेम-प्रतिमा", "प्रेम-पूर्णिमा", "प्रेम-पच्चीसी", "प्रेम-प्रसून", "प्रेमतीर्थ" "सप्त-सरोज", "नव-निधि" "पाँच फूल", "सप्त सुमन", "प्रेम कुंज" आदि। आपकी दो-चार गल्पों के अनुवाद जापानी तथा अंग्रेजी भाषा में भी निकल चुके हैं। आप 'माधुरी' के संयुक्तसम्पादक तो वर्षों रहे ही हैं, इधर 'हंस' का सम्पादन भी बड़ी ही योग्यता से कर रहे हैं। (रामदासगौड़)

(१) शतरंज के खिलाड़ी

(१)

जिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम की पीनक ही के मजे लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धन्धों में, आहार-व्यवहार में सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राज-कर्मचारी विषय-वासना में, कवि-गण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिस्सी और उबटन का रोजगार करने में, लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं; तीतरों की लड़ाई के लिये पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज

का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फ़क़ीरों को पैसे मिलते, तो वे रोटियाँ न लेकर अफ़ीम खाते या मदक पीते। सतरंज, ताश, गंजीफ़ा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है। ये दलीलें ज़ोरों के साथ पेश की जाती थीं (इस सम्प्रदाय के लोगों से दुनिया अब भी खाली नहीं है) इस लिए अगर मिरजा सज्जादअली और मीर रौशनअली अपना अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे, तो किसी विचारशील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी? दोनों के पास मौरूसी जागीरें थीं; जीविका की कोई चिन्ता न थी; घर में बैठे चखौतियाँ करते थे। आख़िर और करते ही क्या? प्रातःकाल दोनों मित्र नाश्ता करके बिसात बिछाकर बैठ जाते, मुहरे सज जाते, और लड़ाई के दाव-पच होने लगते। फिर ख़बर न होती थी कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम। घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता कि खाना तैयार है। यहाँ से जवाब मिलता—चलो, आते हैं; दस्तरख्वान बिछाओ। यहाँ तक कि बावरची विवश होकर कमरे ही में खाना रख जाता था। और दोनों मित्र दोनों काम साथ-साथ करते थे। मिरजा सज्जादअली के घर में कोई बड़ा-बूढ़ा न था, इसलिए उन्हीं के दीवानखाने में बाज़ियाँ होती थीं; मगर यह बात न थी कि मिरजा के घर के और लोग उनके इस व्यवहार से खुश हों। घरवालों का तो कहना ही क्या, महल्लेवाले, घर के नौकर

चाकर तक नित्य द्वेष-पूर्ण टिप्पणियाँ किया करते थे—बड़ा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर देता है। खुदा न करे, किसी को इसकी चाट पड़े, आदमी दीन दुनिया किसी के काम का नहीं रहता। न घर का न घाट का। बुरा रोग है। यहाँ तक कि मिरज़ा की बेगम साहब को इससे इतना द्वेष था कि अवसर खोज-खोज कर पति को लताड़ती थीं; पर उन्हें इसका अवसर मुश्किल से मिलता था। वह सोती ही रहती थीं, तब तक उधर बाज़ी बिछ जाती थी। और रात को जब सो जाती थीं, तब कहीं मिरेजाजी घर में आते थे। हाँ नौकरों पर वह अपना गुस्सा उतारती रहती थीं—क्या पान माँगे हैं? कह दो आकर ले जायँ। खाने की फ़ुरसत नहीं है? ले जाकर खाना सिर पर पटक दो, खायें चाहे कुत्ते को खिलावें। पर दूबदू वह भी कुछ न कह सकती थीं। उनको अपने पति से उतना मलाल न था, जितना मीरसाहब से। उन्होंने उनका नाम मीर बिगाड़ू रख छोड़ा था। शायद मिरजाजी अपनी सफ़ाई देने के लिए सारा इलजाम मीरसाहब ही के सिर थोप देते थे।

एक दिन बेगम साहबा के सिर में दर्द होने लगा। उन्होंने लौंडी से कहा—जाकर मिरजासाहब को बुला ला। किसी हकीम के यहाँ से दवा लावें। दौड़ जल्दी कर। लौंडी गई, तो मिरजाजी ने कहा—चल अभी आते हैं। बेगम साहबा का मिज़ाज गरम था। इतनी ताब कहाँ कि उनके सिर में दर्द हो, और पति शतरंज खेलता रहे। चेहरा सुर्ख हो गया। लौंडी से कहा—जाकर

कह, अभी चलिए, नहीं तो वह आपही हकीम के यहाँ चली जायँगी।

मिरजाजी बड़ी दिल-चस्पी बाज़ी खेल रहे थे, दो ही किस्तों में मिरसाहब को मात हुई जाती थी। झुँझलाकर बोले—क्या ऐसे दम लबों पर है ? जरा सब्र नहीं होता ?

मीर—अरे तो जाकर सुन ही आइए न। औरतें नाजुक-मिज़ाज होती ही हैं।

मिरजा—जी हाँ, चला क्यों न जाऊँ ! दो किस्तों में आपको मात होती है।

मीर—जनाब इस भरोसे न रहियेगा। वह चाल सोची है कि आपके मुहरे धरे रहें और मात हो जाय; पर जाइये सुन आइए। क्यों खामख्वाह उनका दिल दुखाइएगा ?

मिरजा—इसी बात पर मात ही करके जाऊँगा।

मीर—मैं खोलूगा ही नहीं। आप जाकर सुन आइए।

मिरजा—अरे यार, जाना पड़ेगा हकीम के यहाँ। सिर-दर्द खाक नहीं है; मुझे परेशान करने का बहाना है।

मीर—कुछ ही हो, उनकी खातिर तो करनी ही पड़ेगी।

मिरज़ा—अच्छा, एक चाल और चल लूँ।

मीर—हरगिज़ नहीं, जब तक आप सुन न आवेंगे, मैं मुहरे में हाथ ही न लगाऊँगा।

मीरजा साहब मजबूर होकर अन्दर गये, तो बेगम साहबा ने त्यौरियाँ बदल कर; लेकिन कराहते हुए कहा—तुम्हें निगोड़ी शत-

रंज इतनी प्यारी है ! चाहे कोई मर ही जाय; पर उठने का नाम नहीं लेते ! नौज कोई तुम-जैसा आदमी हो !

मिरज़ा—क्या कहूँ, मीरसाहब मानते ही न थे। बड़ी मुश्किल से पीछा छुड़ाकर आया हूँ।

बेगम—क्या जैसे वह खुद निखट्टू हैं, वैसे ही सबको समझते हैं ? उनके भी तो बाल-बच्चे हैं, या सबका सफाया कर डाला ?

मिरज़ा—बड़ा लती आदमी है। जब आ जाता है, तब मजबूर होकर मुझे भी खेलना ही पड़ता है।

बेगम—दुत्कार क्यों नहीं देते ?

मिरज़ा—बराबर के आदमी हैं, उम्र में, दर्जे में मुझसे दो अङ्गुल ऊँचे। मुलाहिज़ा करना ही पड़ता है।

बेगम—तो मैं ही दुत्कारे देती हूँ। नाराज़ हो जायँगे, हो जायँ। कौन किसी की रोटियाँ चला देता है। रानी रूठेंगी, अपना सुहाग लेंगी।—हिरिया, जा, बाहर से शतरंज उठा ला। मीर साहब से कहना, मियाँ अब न खेलेंगे, आप तशरीफ़ ले जाइये !

मिरज़ा—हाँ हाँ, कहीं ऐसा ग़ज़ब भी न करना ! ज़लील कराना चाहती हो क्या !—ठहर हिरिया, कहाँ जाती है।

बेगम—जाने क्यों नहीं देते ! मेरा ही खून पिये, जो उसे रोके। अच्छा, उसे रोका, मुझे रोको तो जानूँ !

यह कहकर बेगम साहबा झल्लाई हुई दीवानख़ाने की तरफ़ चलीं। मिरज़ा बेचारे का रंग उड़ गया। बीवी की मिन्नतें करने लगे—खुदा के लिए, तुम्हें हज़रत हुसेन की क़सम है। मेरी ही

मैयत देखे, जो उधर जाय; लेकिन बेगम ने एक :
दीवानख़ाने के द्वार तक गईं; पर एकाएक पर पुरुष के सामने जाते हुए पाँव बँध-से गये। भीतर झाँका। संयोग से कमरा ख़ाली था। मीरसाहब ने दो-एक मुहरे इधर-उधर कर दिए थे, और अपनी सफ़ाई जताने के लिए बाहर टहल रहे थे। फिर क्या था, बेगम ने अन्दर पहुँचकर बाज़ी उलट दी, मुहरे कुछ तख्त के नीचे फेंक दिए, कुछ बाहर अ.र किवाड़े अन्दर से बन्द करके कुंडी लगा दी। मीरसाहब दरवाजे पर थे ही, मुहरे बाहर फेंके जाते देखे, चूड़ियों की झनक कान में पड़ी। फिर दरवाजा बन्द हुआ, तो समझ गए, बेगम साहबा बिगड़ गईं। चुपके से घर की राह ली।

मिरजा ने कहा—तुमने ग़ज़ब किया!

बेगम—अब मीरसाहब इधर आये, तो खड़े-खड़े निकलवा दूँगी। इतनी लौ खुदा से लगाते, तो वली हो जाते। आप तो शतरंज खेलें, और मैं यहाँ चूल्हे-चक्की की फ़िक्र में सिर खपाऊँ! ले जाते हो हकीम साहब के यहाँ कि अब भी ताम्मुल है?

मिरजा घर से निकले, तो हकीम के घर जाने के बदले मीर साहब के घर पहुँचे, और सारा वृत्तान्त कहा। मीरसाहब बोले—मैंने तो जब मुहरे बाहर आते देखे, तभी ताड़ गया। फ़ौरन् भागा। बड़ी गुस्सेवर मालूम होती है; मगर आपने उन्हें यों सिर चढ़ा रक्खा है, यह मुनासिब नहीं। उन्हें इससे क्या मतलब कि आप बाहर क्या करते हैं। इन्तज़ाम करना उनका काम है, दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार?

मिरजा—खैर, यह तो बताइए, अब कहाँ जमाव होगा ?

मीर—इसका क्या ग़म है। इतना बड़ा घर पड़ा हुआ है। बस, यहीं जमे।

मिरजा—लेकिन बेगम साहबा को कैसे मनाऊँगा ? जब घर पर बैठा रहता था, तब तो वह इतना बिगड़ती थीं ; यहाँ बैठक होगी, तो शायद ज़िन्दा न छोड़ेंगी।

मीर—अजी बकने भी दीजिए ; दो-चार रोज़ में आप ही ठीक हो जायँगी। हाँ, आप इतना कीजिए कि आज से ज़रा तन जाइए।

(२)

मीरसाहब की बेगम किसी अज्ञात कारण से मीरसाहब का घर से दूर रहना ही उपयुक्त समझती थीं ; इसलिए वह उनके शतरंज-प्रेम की कभी आलोचना न करती थीं ; बल्कि कभी-कभी मीरसाहब को देर हो जाती, तो याद दिला देती थीं। इन कारणों से मीरसाहब को भ्रम हो गया था, कि मेरी स्त्री अत्यंत विनयशील और गम्भीर है ; लेकिन जब दीवानखाने में बिसात बिछने लगी, और मीरसाहब दिन-भर घर में रहने लगे, तो बेगम साहबा को बड़ा कष्ट होने लगा। उनकी स्वाधीनता में बाधा पड़ गई। दिन-भर दरवाजे पर झाँकने को तरस जातीं।

उधर नौकरों में भी कानाफूसी होने लगी। अब तक दिन-भर पड़े-पड़े मक्खियाँ मारा करते थे। घर में कोई आवे, कोई जाय, उनसे कुछ मतलब न था। अब आठों पहर की धौंस हो गई।

कभी पान लाने का हुक्म होता। कभी मिठाई का। और, हुक्क़ा तो किसी प्रेमी के हृदय की भाँति जलता ही रहता था। वे बेगम साहबा से जा-जाकर कहते—हुज़ूर, मियाँ की शतरंज तो हमारे जी का जंजाल हो गई ! दिन-भर दौड़ते-दौड़ते पैरों में छाले पड़ गये। यह भी कोई खेल है कि सुबह को बैठे तो शाम कर दी ! घड़ी-आध-घड़ी दिल-बहलाव के लिए खेल लेना बहुत है। ख़ैर, हमें तो कोई शिकायत नहीं, हुज़ूर के गुलाम हैं, जो हुक्म होगा, बजा ही लावेंगे ; मगर यह खेल मनहूस है। इसका खेलनेवाला कभी पनपता नहीं ; घर पर कोई न कोई आफ़त ज़रूर आती है। यहाँ तक कि एक के पीछे महल्ले के महल्ले तबाह होते देखे गये है। सारे महल्ले में यही चरचा होती रहती है। हुज़ूर का नमक खाते हैं, अपने आक़ा की बुराई सुन-सुनकर रंज होता है ; मगर क्या करें। इस पर बेगम साहबा कहतीं—मैं तो खुद इसको पसन्द नहीं करती ; पर वह किसी की सुनते ही नहीं, तो क्या किया जाय।

महल्ले में भी जो दो-चार पुराने ज़माने के लोग थे, वे आपस में भाँति-भाँति के अमङ्गल की कल्पनाएं करने लगे—अब ख़ैरियत नहीं है। जब हमारे रईसों का यह हाल है, तो मुल्क का खुदा ही हाफ़िज़ है। यह बादशाहत शतरंज के हाथों तबाह होगी। आसार बुरे हैं।

राज्य में हाहाकार मचा हुआ था। प्रजा दिन-दहाड़े लूटी जाती थी। कोई फ़रियाद सुननेवाला न था। देहातों की सारी

दौलत लखनऊ में खिंची आती थी, और वह वेश्याओं में, भाँड़ों में, और विलासिता के अन्य अङ्गों की पूर्ति में उड़ जाती थी। अँगरेज़-कम्पनी का ऋण दिन-दिन बढ़ता जाता था। कमली दिन-दिन भीगकर भारी होती जाती थी। देश में सुव्यवस्था न होने के कारण वार्षिक कर भी न वसूल होता था। रेज़ीडेंट बार-बार चेतावनी देता था; पर यहाँ तो लोग विलासिता के नशे में चूर थे; किसी के कानों पर जूँ न रेंगती थी।

ख़ैर, मीरसाहब के दीवानख़ाने में शतरंज होते कई महीने गुज़र गये। नये-नये नक्शे हल किये जाते, नये-नये क़िले बनाये जाते, नित्य नई व्यूह-रचना होती, कभी-कभी खेलते-खेलते झौड़ हो जाती, तू-तू मैं-मैं तक की नौबत आ जाती; पर शीघ्र ही दोनों मित्रों में मेल हो जाता। कभी-कभी ऐसा भी होता, कि बाज़ी उठा दी जाती, मिरजा जी रूठकर अपने घर चले आते। मीरसाहब अपने घर में जा बैठते; पर रात-भर की निद्रा के साथ सारा मनोमालिन्य शान्त हो जाता था। प्रातःकाल दोनों मित्र दीवानखाने में आ पहुँचते थे।

एक दिन दोनों मित्र बैठे हुए शतरंज के दल-दल में ग़ोते खा रहे थे कि इतने में घोड़े पर सवार एक बादशाही फौज का अफ़सर मीरसाहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीरसाहब के होश उड़ गये! यह क्या बला सिर पर आई! यह तलबी किस लिए हुई है! अब ख़ैरियत नहीं नज़र आती! घर के दरवाजे बन्द कर लिये। नौकरों से बोले—कह दो, घर में नहीं हैं।

सवार—घर में नहीं, तो कहाँ है ?

नौकर—यह मैं नहीं जानता। क्या काम है ?

सवार—काम तुझे क्या बतलाऊँ ? हुजूर में तलबी है—शायद फ़ौज के लिए कुछ सिपाही माँगे गये हैं। जागीरदार हैं कि दिल्लगी ! मोरचे पर जाना पड़ेगा, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा !

नौकर—अच्छा, तो जाइए, कह दिया जायगा।

सवार—कहने की बात नहीं है। मैं कल खुद आऊँगा, साथ ले जाने का हुक्म हुआ है।

सवार चला गया। मीरसाहब की आत्मा काँप उठी। मिरजाजी से बोले—कहिए जनाब अब क्या होगा ?

मिरजा—बड़ी मुसीबत है कहीं मेरी तलबी भी न हो।

मीर—कम्बख्त कल फिर आने को कह गया है।

मिरजा—आफत है और क्या ! कहीं मोरचे पर जाना पड़ा तो बे-मौत मरे।

मीर—बस, यही एक तदबीर है कि घर पर मिलो ही नहीं। कल से गोमती पर कहीं वीराने में नक्शा जमे। वहाँ किसे खबर होगी। हज़रत आकर आप लौट जाँयगे।

मिरजा—वल्लाह, आपको खूब सूझी ! इसके सिवा और कोई तदबीर ही नहीं है।

इधर मीरसाहब की बेगम उस सवार से कह रही थीं, तुमने खूब धता बताई। उसने जवाब दिया—ऐसे गावदियों को तो

चुटकियों पर नचाता हूँ। इनकी सारी अक्ल और हिम्मत तो शतरंज ने चर ली। अब भूलकर भी घर पर न रहेंगे।

(३)

दूसरे दिन से दोनों मित्र मुँह-अँधेरे घर से निकल खड़े होते। बग़ल में एक छोटी-सी दरी दबाये, डिब्बे में गिलौरियाँ भरे, गोमती-पार की एक पुरानी वीरान मसजिद में चले जाते, जिसे शायद नवाब आसफ़उद्दौला ने बनवाया था। रास्ते में तम्बाकू, चिलम और मदरिया ले लेते और मसजिद में पहुँच, दरी बिछा, हुक्का भरकर शतरंज खेलने बैठ जाते थे। फिर उन्हें दीन-दुनिया की फ़िक्र न रहती थी। किश्त, शह आदि दो-एक शब्दों के सिवा उनके मुँह से और कोई वाक्य नहीं निकलता था। कोई योगी भी समाधि में इतना एकाग्र न होता होगा। दोपहर को जब भूख मालूम होती, तो दोनों मित्र किसी नानबाई की दूकान पर जाकर खाना खा आते, और एक चिलम हुक्का पीकर फिर संग्राम-क्षेत्र में डट जाते। कभी-कभी तो उन्हें भोजन का भी ख्याल न रहता था।

इधर देश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कम्पनी की फ़ौजें लखनऊ की तरफ़ बढ़ी चली आती थीं। शहर में हल-चल मची हुई थी। लोग बाल-बच्चों को ले-लेकर देहातों में भाग रहे थे; पर हमारे दोनों खिलाड़ियों को इसकी ज़रा भी फ़िक्र न थी। वे घर से आते, तो गलियों में होकर। डर था, कि कहीं किसी बादशाही मुलाज़िम की निगाह न पड़ जाय, जो

बेगार में पकड़ जायँ। हज़ारों रुपये सालाना की जागीर मुफ्त ही में हज़म करना चाहते थे।

एक दिन दोनों मित्र मसजिद के खँडहर में बैठे हुए शतरंज खेल रहे थे। मिरजा की बाज़ी कुछ कमज़ोर थी। मीरसाहब उन्हें किश्त-पर-किश्त दे रहे थे। इतने में कम्पनी के सैनिक आते हुए दिखाई दिये। यह गोरों की फ़ौज थी, जो लखनऊ पर अधिकार जमाने के लिये आ रही थी।

मीरसाहब बोले—अँगरेज़ी फ़ौज आ रही है; खुदा खैर करे।

मिरजा—आने दीजिये, किश्त बचाइये। यह किश्त!

मीर—ज़रा देखना चाहिए, यहीं आड़ में खड़े हो जायँ।

मिरजा—देख लीजियेगा, जल्दी क्या है, किश्त!

मीर—तोपख़ाना भी है। कोई पाँच हज़ार आदमी होंगे। कैसे-कैसे जवान हैं! लाल बन्दरों के-से मुँह। सूरत देखकर ख़ौफ मालूम होता है।

मिरजा—जनाब, हीले न कीजिये। ये चकमे किसो और को दीजियेगा, यह किश्त!

मीर—आप भी अजीब आदमी हैं। यहाँ तो शहर पर आफ़त आई हुई है, और आपको किश्त की सूझी है! कुछ इसकी भी ख़बर है, कि शहर घिर गया, तो घर कैसे चलेंगे?

मिरजा—जब घर चलने का वक्त आएगा, तो देखी जायगी—यह किश्त! बस, अबकी शह में मात है।

फ़ौज निकल गई। दस बजे का समय था। फिर बाज़ी बिछ गई।

मिरजा बोले—आज खाने की कैसे ठहरेगी ?

मीर—अजी, आज तो रोज़ा है। क्या आपको ज्यादा भूख मालूम होती है ?

मिरजा—जी नहीं। शहर में न-जाने क्या हो रहा है।

मीर—शहर में कुछ न हो रहा होगा। लोग खाना-खा-कर आराम से सो रहे होंगे। हुजूर नवाबसाहब भी ऐशगाह में होंगे।

दोनों सज्जन फिर जो खेलने बैठे, तो तीन बज गये। अबकी मिरजाजी की बाज़ी कमज़ोर थी। चार का गजर बज ही रहा था कि फौज की वापसी की आहट मिली। नवाब वाजिदअली पकड़ लिए गये थे, और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को लिये जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न मार-काट। एक बूँद भी खून नहीं गिरा था। आजतक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शान्ति से, इस तरह खून बहे बिना, न हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी, जिस पर देवगण प्रसन्न होते हैं यह वह कायरपन था, जिस पर बड़े-से-बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश का नवाब बन्दी बना चला जाता था, और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह राजनीतिक अधःपतन की चरम सीमा थी।

मिरजा ने कहा—हुजूर नवाबसाहब को ज़ालिमों ने क़ैद कर लिया है।

मीर—होगा, यह लीजिये शह !

मिरजा—जनाब, जरा ठहरिए। इस वक्त इधर तबीयत

नहीं लगती। बेचारे नवाबसाहब इस वक्त ख़ून के आँसू रो रहे होंगे।

मीर—रोया ही चाहें। यह ऐश वहाँ कहाँ नसीब होगा—यह किश्त!

मिरजा—किसी के दिन बराबर नहीं जाते। कितनी दर्दनाक हालत है।

मीर—हाँ सो तो है ही—यह लो फिर किश्त! बस, अबकी किश्त में मात है, बच नहीं सकते।

मिरजा—खुदा की कसम, आप बड़े बेदर्द हैं। इतना बड़ा हादसा देखकर भी आपको दुःख नहीं होता। हाय, ग़रीब वाजिदअली शाह!

मीर—पहले अपने बादशाह को तो बचाइए, फिर नवाबसाहब का मातम कीजिएगा। यह किश्त और मात! लाना हाथ!

बादशाह को लिये हुए सेना सामने से निकल गई! उनके जाते ही मिरजा ने फिर बाजी बिछा दी। हार की चोट बुरी होती है। मीर ने कहा—आइये, नवाबसाहब के मातम में एक मरसिया कह डालें; लेकिन मिरजा की राज-भक्ति अपनी हार के साथ लुप्त हो चुकी थी। वह हार का बदला चुकाने के लिये अधीर हो रहे थे।

(४)

शाम हो गई। खँडहर में चमगादड़ों ने चीखना शुरू किया।

अबाबीलें आ आकर अपने-अपने घोसलों में चिमटीं। पर दोनों खिलाड़ी डटे हुए थे, मानों दो खून के प्यासे सूरमा आपस में लड़ रहे हों। मिरजा जी तीन बाजियाँ लगातार हार चुके थे; इस चौथी बाज़ी का रंग भी अच्छा न था। वह बार-बार जीतने का दृढ़ निश्चय करके सँभालकर खेलते थे; लेकिन एक-न-एक चाल ऐसी बेढब आ पड़ती थी, जिससे बाजी खराब हो जाती थी। हर बार हार के साथ प्रतिकार की भावना और भी उग्र होती जाती थी। उधर मीर साहब मारे उमंग के ग़ज़लें गाते थे, चुटकियाँ लेते थे, मानो कोई गुप्त धन पा गये हों। मिरजाजी सुन-सुनकर झुँझलाते और हार की झेंप मिटाने के लिए उनकी दाद देते थे; पर ज्यों-ज्यों बाज़ी कमज़ोर पड़ती थी, धैर्य हाथ से निकला जाता था! यहाँ तक कि वह बात-बात पर झुँझलाने लगे—जनाब, आप चाल न बदला कीजिए। यह क्या कि एक चाल चले, और फिर उसे बदल दिया। जो कुछ चलना हो, एक बार चल लीजिए। यह आप मुहरे पर हाथ क्यों रखे रहते हैं? मुहरे को छोड़ दीजिए। जब तक आपको चाल न सूझे, मुहरा छूइए ही नहीं। आप एक-एक चाल आध-आध घंटे में चलते हैं। इसकी सनद नहीं। जिसे एक चाल चलने में पाँच मिनट से ज्यादा लगे, उसको मात समझी जाय। फिर आपने चाल बदली! चुपके से मुहरा वहीं रख दीजिए।

मीर साहब का फ़रजी पिटता था। बोले—मैंने चाल चली ही कब थी?

मिरज़ा—आप चाल चल चुके हैं। मुहरा वहीं रख दीजिए—उसी घर में!

मीर—उस घर में क्यों रक्खूँ? मैंने हाथ से मुहरा छोड़ा ही कब था?

मिरज़ा—मुहरा आप क़यामत तक न छोड़ें, तो क्या चाल ही न होगी? फ़रज़ी पिटते देखा, तो धाँधली करने लगे!

मीर—धाँधली आप करते हैं। हार-जीत तक़दीर से होती है; धाँधली करने से कोई नहीं जीतता?

मिरज़ा—तो इस बाज़ी में आपको मात हो गई।

मीर—मुझे क्यों मात होने लगी?

मिरज़ा—तो आप मुहरा उसी घर में रख दीजिए, जहाँ पहले रक्खा था।

मीर—वहाँ क्यों रक्खूँ? नहीं रखता!

मिरज़ा—क्यों न रखिएगा? आपको रखना होगा!

तकरार बढ़ने लगी। दोनों अपनी-अपनी टेक पर अड़े थे। न यह दबता था, न वह! अप्रासंगिक बातें होने लगीं। मिरज़ा बोले—किसी ने ख़ानदान में शतरंज खेली होती, तब तो इसके क़ायदे जानते। वे तो हमेशा घास छीला किये आप शतरंज क्या खेलिएगा। रियासत और ही चीज़ है। जागीर मिल जाने से ही कोई रईस नहीं हो जाता।

मीर—क्या! घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे। यहाँ तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आ रहे हैं।

मिरजा—अजी, जाइए भी, गाजिउद्दीन हैदर के यहाँ बावरची का काम करते-करते उम्र गुज़र गई, आज रईस बनने चले हैं। रईस बनना कुछ दिल्लगी नहीं है।

मीर—क्यों अपने बुजर्गों के मुँह कालिख लगाते हो—वे ही बावरची का काम करते होंगे। यहाँ तो हमेशा बादशाह के दस्तरख्वान पर खाना खाते चले आये हैं।

मिरजा—अरे चल चरकटे, बहुत बढ़-बढ़कर बातें न कर।

मीर—ज़बान संभालिये, वरना बुरा होगा। मैं ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं हूँ। यहाँ तो किसी ने आँखें दिखाईं कि उसकी आँखें निकालीं। है हौसला ?

मिरजा—आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं, तो फिर आइए, आज दो-दो हाथ हो जाय, इधर या उधर !

मीर—तो यहाँ तुमसे दबनेवाला कौन है ?

दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नवाबी ज़माना था ; सभी तलवार, पेशक़ब्ज, कटार वग़ैरह बाँधते थे। दोनों विलासी थे ; पर कायर न थे। उनमें राजनीतिक भावों का अधःपतन हो गया था—बादशाह के लिए, बादशाहत के लिए क्यों मरें ; पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनों ने पैतरे बदले, तलवारें चमकीं, छपाछप की आवाज़ें आईं। दोनों ज़ख्म खाकर गिरे, और दोनों ने वहीं तड़प-तड़प कर जानें दे दीं। अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखों से एक बूँद आँसू न निकला, उन्हीं दोनों प्राणियों ने शतरंज के वज़ीर की रक्षा में प्राण दे दिये।

अँधेरा हो चला था। बाजी बिछी हुई थी। दोनों बादशाह अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे हुए मानो इन दोनों वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे।

चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। खंडहर की टूटी हुई मेहराबें, गिरी हुई दीवार और धूल-धूसरित मीनारें इन लाशों को देखतीं और सिर धुनती थीं।

—०—

(२) कामना-तरु

---

(१)
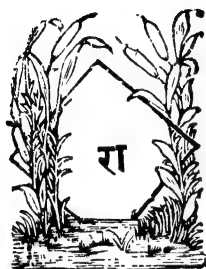
जा इंद्रनाथ का देहान्त हो जाने के बाद, कुँअर राजनाथ को शत्रुओं ने चारों ओर से ऐसा दबाया, कि उन्हें अपने प्राण लेकर एक पुराने सेवक की शरण जाना पड़ा, जो एक छोटे-से गाँव का जागीरदार था। कुँअर स्वभाव ही से शांति-प्रिय, रसिक, हँस-खेलकर समय काटनेवाले युवक थे। रण-क्षेत्र की अपेक्षा कवित्व के क्षेत्र में अपना चमत्कार दिखाना उन्हें अधिक प्रिय था। रसिकजनों के साथ, किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए, काव्य-चरचा करने में उन्हें जो आनन्द मिलता था, वह शिकार या राज-दरबार में नहीं। इस पर्वत-मालाओं से घिरे हुए गाँव में आकर, उन्हें जिस शांति और आनन्द का अनुभव हुआ, उसके बदले में वह ऐसे-ऐसे कई राज त्याग कर सकते थे। यह पर्वत-मालाओं की मनोहर छटा, यह नेत्र-रंजक हरियाली, यह जल-प्रवाह की मधुर वीणा, यह पक्षियों की मीठी बोलियाँ, यह मृग-शावकों की छलाँग, यह बछड़ों की कुलेलें, यह ग्राम-निवा-

सियों की बालोचित सरलता, यह रमणियों की संकोच-मय चपलता, ये सभी बातें उनके लिये नई थीं ; पर इन सबों से बढ़कर जो वस्तु उनको आकर्षित करती थी, वह जागीरदार की युवती कन्या चन्दा थी।

चन्दा घर का सारा काम-काज आप ही करती थी। उसको माता की गोद में खेलना नसीब ही न हुआ था। पिता की सेवा ही में रत रहती थी। उसका विवाह इसी साल होनेवाला था, कि इसी बीच मे कुँअरजी ने आकर उसके जीवन में नवीन भावनाओं और नवीन आशाओं को अंकुरित कर दिया। उसने अपने पति का जो चित्र मन में खींच रक्खा था, वही मानों रूप धारण करके उसके सम्मुख आ गया। कुँअर की आदर्श रमणी भी चन्दा ही के रूप में अवतरित हो गई ; लेकिन कुँअर समझते थे, मेरे ऐसे भाग्य कहाँ ? चन्दा भी समझती थी, कहाँ यह और कहाँ मैं !

(२)

दोपहर का समय था और जेठ का महीना। खपरैल का घर भट्ठी की भाँति तपने लगा। खस की टट्टियों और तहखानों में रहनेवाले राजकुमार का चित्त गरमी से इतना बेचैन हुआ, कि वह बाहर निकल आये और सामने के बाग़ में जाकर एक घने वृक्ष के छाँह में बैठ गये। सहसा उन्होंने देखा—चन्दा नदी से जल की गागर लिये चली आ रही है। नीचे जलती हुई रेत थी, ऊपर जलता हुआ सूर्य। लू से देह झुलसी जाती थी। कदाचित् इस समय प्यास से तड़पते हुए आदमी की भी नदी तक जाने का

हिम्मत न पड़ती थी। चन्दा क्यों जल लेने गई थी? घर में पानी भरा हुआ है। फिर इस समय वह क्यों पानी लेने निकली?

कुँअर दौड़कर उसके पास जा पहुँचे और उसके हाथ से गागर छीन लेने की चेष्टा करते हुए बोले—मुझे दे दो और भागकर छाँह में चली जाओ। इस समय पानी का क्या काम था?

चन्दा ने गागर न छोड़ी। सिर से खिसका हुआ अंचल सँभाल कर बोली—तुम इस समय कैसे आ गये? शायद मारे गरमी के अन्दर न रह सके!

कुँअर—मुझे दे दो, नहीं मैं छीन लूँगा।

चन्दा ने मुस्कुराकर कहा—राजकुमारों को गागर लेकर चलना शोभा नहीं देता।

कुँअर ने गागर का मुँह पकड़कर कहा—इस अपराध का बहुत दण्ड सह चुका हूँ। चन्दा, अब तो अपने को राजकुमार कहने में भी लज्जा आती है।

चन्दा—देखो धूप में खुद हैरान होते हो और मुझे भी हैरान करते हो। गागर छोड़ दो। सच कहती हूँ, पूजा का जल है।

कुँअर—क्या मेरे ले जाने से, पूजा का जल अपवित्र हो जायगा?

चन्दा—अच्छा भाई नहीं जानते, तो तुम्हीं ले चलो। हाँ नहीं तो!

कुँअर गागर लेकर आगे-आगे चले। चन्दा पीछे हो ली। बग़ीचे में पहुँचे, तो चन्दा एक छोटे-से पौधे के पास रुक कर

बोली—इसी देवता की पूजा करनी है, गागर रख दो। कुँअर ने आश्चर्य से पूछा—यहाँ कौन देवता है चन्दा? मुझे तो नहीं नज़र आता।

चन्दा ने पौधे को सींचते हुए कहा—यही तो मेरा देवता है!

पानी पाकर पौधे की मुरझाई हुई पत्तियाँ हरी हो गईं, मानो उनकी आँखें खुल गई हों।

कुँअर ने पूछा—यह पौधा क्या तुमने लगाया है चन्दा?

चन्दा ने पौधे को एक सीधी लकड़ी से बाँधते हुए कहा—हाँ, उसी दिन तो, जब तुम यहाँ आए। यहाँ पहले मेरी गुड़ियों का घरौंदा था। मैंने गुड़ियों पर छाँह करने के लिए एक अमोल लगा दिया था। फिर मुझे इसकी याद नहीं रही। घर के काम-धन्धे में भूल गई। जिस दिन तुम यहाँ आये, मुझे न-जाने क्यों इस पौधे की याद आ गई। मैंने आकर देखा, तो यह सूख गया था। मैंने तुरन्त पानी लाकर इसे सींचा, तो कुछ-कुछ ताज़ा होने लगा। तब से रोज़ इसे सींचती हूँ। देखो कितना हरा-भरा हो गया है!

यह कहते-कहते उसने सिर उठाकर कुँअर की ओर ताकते हुए कहा—और सब काम भूल जाऊँ; पर इस पौधे को पानी देना नहीं भूलती। तुम्हीं इसके प्राण-दाता हो। यह तुम्हीं ने आकर इसे जिला दिया, नहीं तो बेचारा सूख गया होता। यह तुम्हारे शुभागमन का स्मृति-चिह्न है। ज़रा इसे देखो। मालूम होता है, हँस रहा है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, कि यह मुझसे बोलता है।

सच कहती हूँ, कभी यह रोता है, कभी हँसता है, कभी रूठता है; आज तुम्हारा लाया हुआ पानी पाकर यह फूला नहीं समाता। एक-एक पत्ता तुम्हें धन्यवाद दे रहा है।

कुँअर को ऐसा जान पड़ा, मानों वह पौधा कोई नन्हा-सा क्रीड़ा-शील बालक है। जैसे चुम्बन से प्रसन्न होकर बालक गोद में चढ़ने के लिए दोनों हाथ फैला देता है, उसी भाँति यह पौधा भी हाथ फैलाए जान पड़ा। उसके एक-एक अणु में चन्दा का प्रेम झलक रहा था।

चन्दा के घर में खेती के सभी औज़ार थे। कुँअर एक फावड़ा उठा लाए और पौधे का एक थाला बनाकर चारों ओर ऊँची मेंड़ उठा दी। फिर खुरपी लेकर अन्दर की मिट्टी को गोड़ दिया। पौधा और भी लहलहा उठा।

चन्दा बोली—कुछ सुनते हो, क्या कह रहा है?

कुँअर ने मुस्कुराकर कहा—हाँ! कहता है अम्माँ की गोद में बैठूँगा।

चन्दा—नहीं, कह रहा है, इतना प्रेम करके फिर भूल न जाना।

(३)

मगर कुँअर को अभी राजपुत्र होने का दण्ड भोगना बाक़ी था। शत्रुओं को न-जाने कैसे उनकी टोह मिल गई इधर तो हित-चिन्तकों के आग्रह से विवश होकर बूढ़ा कुबेरसिंह चन्दा और कुँअर के विवाह की तैयारियाँ कर रहा था, उधर शत्रुओं का एक

दल सिर पर आ पहुँचा। कुँअर ने उस पौधे के आस-पास फूल-पत्ते लगाकर एक फुलवाड़ी-सी बना दी थी। पौधे को सींचना अब उनका काम था। प्रातःकाल वह कन्धे पर काँवर रक्खे नदी से पानी ला रहे थे कि दस-बारह आदमियों ने उन्हें रास्ते में घेर लिया। कुबेर सिंह तलवार लेकर दौड़ा; लेकिन शत्रुओं ने उसे मार गिराया। अकेला, शस्त्र-हीन कुँअर क्या करता। कन्धे पर काँवर रक्खे हुए बोला—अब क्यों मेरे पीछे पड़े हो भाई? मैंने तो सब कुछ छोड़ दिया।

सरदार बोला—हमें आपको पकड़ ले जाने का हुक्म है।

"तुम्हारा स्वामी मुझे इस दशा में भी नहीं देख सकता? खैर, अगर धर्म समझो, तो कुबेरसिंह की तलवार मुझे दे दो। अपनी स्वाधीनता के लिए लड़कर प्राण दूँ।"

इसका उत्तर यही मिला कि सिपाहियों ने कुँअर को पकड़कर मुश्कें कस दीं और उन्हें एक घोड़े पर बिठाकर घोड़े को भगा दिया काँवर वहीं पड़ी रह गई।

उसी समय चन्दा घर में से निकली। देखा, काँवर पड़ी हुई है और कुँअर को लोग घोड़े पर बिठाए लिए जा रहे हैं। चोट खाए हुए पक्षी की भाँति वह कई कदम दौड़ी, फिर गिर पड़ी। उसकी आँखों में अँधेरा छा गया।

सहसा उसकी दृष्टि पिता की लाश पर पड़ी। वह घबड़ाकर उठी और लाश के पास जा पहुँची। कुबेर अभी मरा न था। प्राण आँखों में अटके हुए थे।

चन्दा को देखते ही क्षीण स्वर में बोला—बेटी...कुँअर!...इसके आगे वह कुछ न कह सका। प्राण निकल गए; पर इस एक शब्द—"कुँअर"—ने उसका आशय प्रगट कर दिया।

(४)

बीस वर्ष बीत गए! कुँअर कैद से न छूट सके।

यह एक पहाड़ी क़िला था। जहाँ तक निगाह जाती, पहाड़ियाँ ही नज़र आतीं। क़िले में उन्हें कोई कष्ट न था। नौकर-चाकर, भोजन-वस्त्र, सैर-शिकार, किसी बात की कमी न थी; पर उस वियोगाग्नि को कौन शान्ति करता, जो नित्य कुँवर के हृदय में जला करती थी। जीवन में अब उनके लिए कोई आशा न थी, कोई प्रकाश न था। अगर कोई इच्छा थी, तो यही कि एक बार उस प्रेम-तीर्थ की यात्रा कर लें, जहाँ उन्हें वह सब कुछ मिला जो मनुष्य को मिल सकता है। हाँ, उनके मन में एक-मात्र यही अभिलाषा थी कि उस पवित्र-स्मृतियों से रंजित भूमि के दर्शन करके जीवन का उसी नदी के तट पर अन्त कर दे। वही नदी का किनारा, वही वृक्षों का कुञ्ज, वही चन्दा का छोटा-सा सुन्दर घर, उसकी आँख में फिरा करता, और वह पौधा, जिसे उन दोनों ने मिलकर सींचा था, उसमें तो मानो उसके प्राण ही बसते थे। क्या वह दिन भी आएगा, जब वह उस पौधे को हरी-हरी पत्तियों से लदा हुआ देखेगा। कौन जाने वह अब है भी या सूख गया। कौन अब उसको सींचता होगा! चन्दा इतने दिनों अविवाहिता थोड़े ही बैठी होगी। ऐसा संभव भी तो नहीं। उसे अब मेरी सुधि भी न

होगी। हाँ शायद कभी अपने घर की याद खींच लाती हो, तो पौधे कोदे खकर उसे मेरी याद आ जाती हो। मुझ-जैसे अभागे के लिए इससे अधिक वह और कर ही क्या सकती है। उस भूमि को एक बार देखने के लिए वह अपना जीवन दे सकता था; पर यह अभिलाषा पूरी न होती थी।

आह! एक युग बीत गया, शोक और नैराश्य ने उठती जवानी को कुचल दिया। न आँखों में ज्योति रही, न पैरों में शक्ति। जीवन क्या था, एक दुःखदायी स्वप्न था। उस सघन अंधकार में उसे कुछ न सूझता था, बस जीवन का आधार एक अभिलाषा थी, एक सुखद स्वप्न जो जीवन में न-जाने कब उसने देखा था, एक बार फिर वही स्वप्न देखना चाहता था। फिर, उसकी अभिलाषाओं का अन्त हो जायगा, उसे कोई इच्छा न रहेगी। सारा अनन्त भविष्य, सारी अनन्त चिन्ताएँ, इसी एक स्वप्न में लीन हो जाती थीं।

उसके रक्षकों को अब उसकी ओर से कोई शंका न थी। उन्हें उस पर दया आती थी। रात को पहरे पर केवल कोई एक आदमी रह जाता था और लोग मीठी नींद सोते थे। कुँअर भाग जा सकता है, इसकी कोई संभावना, कोई शंका न थी। यहाँ तक कि एक दिन यह एक सिपाही भी निश्शंक होकर बन्दूक लिए लेट रहा। निद्रा किसी हिंसक पशु की भाँति ताक लगाए बैठी थी। लेटते ही टूट पड़ी। कुँअर ने सिपाही की नाक की आवाज़ सुनी। उनका हृदय बड़े वेग से उछलने लगा। यह अवसर आज कितने

दिनों के बाद मिला था। वह उठे; मगर पाँव थरथर काँप रहे थे। बरामदे के नीचे उतरने का साहस न हो सका। कहीं इसकी नींद खुल गई तो? हिंसा उनकी सहायता कर सकती थी। सिपाही की बगल में उसकी तलवार पड़ी थी; पर प्रेम को हिंसा से बैर है। कुँअर ने सिपाही को जगा दिया। वह चौंककर उठ बैठा। रहा-सहा संशय भी उसके दिल से निकल गया। दूसरी बार जो सोया तो खर्राटे लेने लगा।

प्रातःकाल जब उसकी निद्रा टूटी, तो उसने लपककर कुँअर के कमरे में झाँका। कुँअर का पता न था।

कुँअर इस समय हवा के घोड़ों पर सवार, कल्पना की द्रुतगति से, भागा जा रहा था—उस स्थान को, जहाँ उसने सुख-स्वप्न देखा था।

किले में चारों ओर तलाश हुई, नायक ने सवार दौड़ाये; पर कहीं पता न चला।

(५)

पहाड़ी रास्तों का काटना कठिन, उस पर अज्ञातवास की कैद, मृत्यु के दूत पीछे लगे हुए, जिनसे बचना मुश्किल। कुँअर को कामना-तीर्थ में महीनों लग गये। जब यात्रा पूरी हुई, तो कुँअर में एक कामना के सिवा और कुछ शेष न था। दिन-भर की कठिन यात्रा के बाद जब वह उस स्थान पर पहुँचे, तो संध्या हो गई थी। वहाँ बस्ती का नाम भी न था। दो-चार टूटे-फूटे झोंपड़े उस बस्ती के चिह्न-स्वरूप शेष रह गये थे। वह झोंपड़ा, जिसमें कभी प्रेम का

प्रकाश था, जिसके नीचे उन्होंने जीवन के सुखमय दिन काटे थे, जो उनकी कामनाओं का आगार और उनकी उपासना का मन्दिर था, अब उनकी अभिलाषाओं की भाँति भग्न हो गया था! झोंपड़े की भग्नावस्था मूक-भापा में अपनी करुण-कथा सुना रही थी। कुँअर उसे देखते ही "चन्दा-चन्दा!" पुकारता हुआ दौड़ा। उसने उस रज को माथे पर मला, मानो किसी देवता की विभूति हो और उसकी टूटी हुई दीवारों से चिमटकर बड़ी देर तक रोता रहा। हाय रे अभिलापा! यह रोने ही के लिये इतनी दूर से आया था? रोने ही की अभिलापा इतने दिनों से उसे विकल कर रही थी; पर इस रोदन में कितना स्वर्गीय आनन्द था। क्या समस्त संसार का सुख इन आँसुओं की तुलना कर सकता था?

तब वह झोंपड़े से निकला। सामने मैदान में एक वृक्ष हरे-हरे नवीन पल्लवों को गोद में लिये, मानो उसका स्वागत करने को खड़ा था। यह वही पौधा है, जिसे आज से बीस वर्ष पहले दोनों ने आरोपित किया था। कुँअर उन्मत्त की भाँति दौड़ा और जाकर उस वृक्ष से लिपट गया, मानो कोई पिता अपने मातृ-हीन पुत्र को छाती से लगाये हुए हो। यह उसी प्रेम की निशानी है, उसी अक्षय प्रेम की, जो इतने दिनों के बाद आज इतना विशाल हो गया है। कुँअर का हृदय ऐसा फूल उठा, मानो इस वृक्ष को अपने अन्दर रख लेगा, जिसमें उसे हवा का झोंका भी न लगे। उसके एक-एक पल्लव पर चन्दा की स्मृति बैठी हुई थी! पक्षियों का इतना रम्य संगीत क्या कभी उसने सुना था! उसके हाथों में

दम न था, सारी देह भूख-प्यास और थकन से शिथिल हो रही थी। पर, वह उस वृक्ष पर चढ़ गया, इतनी फुर्ती से चढ़ा कि बन्दर भी न चढ़ता। सबसे ऊँची फुनगी पर बैठकर उसने चारों ओर गर्व-पूर्ण दृष्टि डाली। यही उसकी कामनाओं का स्वर्ग था। सारा दृश्य चंदामय हो रहा था। दूर की नीली पर्वत-श्रेणियों पर चन्दा बैठी गा रही थी, आकाश में तैरनेवाली लालिमा-मयी नौकाओं पर चन्दा ही उड़ी जाती थी। सूर्य की श्वेत-पीत प्रकाश की रेखाओं पर चन्दा ही बैठी हँस रही थी। कुँअर के मन में आया, पक्षी होता तो इन्हीं डालियों पर बैठा हुआ जीवन के दिन पूरे करता।

जब अँधेरा हो गया, तो कुँअर नीचे उतरा और उसी वृक्ष के नीचे थोड़ी-सी भूमि झाड़कर, पत्तियों की शय्या बनाई और लेटा। यही उसके जीवन का स्वर्ण-स्वप्न था, आह यही वैराग्य! अब वह इस वृक्ष की शरण छोड़कर कहीं न जायगा। दिल्ली के तख्त के लिए भी वह इस आश्रम को न छोड़ेगा।

(६)

उसी स्निग्ध अमल चाँदनी में सहसा एक पक्षी आकर उस वृक्ष पर बैठा और दर्द में डूबे हुए स्वरों में गाने लगा। ऐसा जान पड़ा, मानो वह वृक्ष सिर धुन रहा है। वह नीरव रात्रि उस वेदना-मय संगीत से हिल उठी, कुँअर का हृदय इस तरह ऐंठने लगा, मानो वह फट जायगा। उस स्वर में करुणा और वियोग के तीर-से भरे हुए थे। आह! पक्षी, तेरा जोड़ा भी अवश्य बिछुड़

गया है, नहीं तेरे राग में इतनी व्यथा, इतना विषाद, इतना रुदन कहाँ से आता! कुँअर के हृदय के टुकड़े हुए जाते थे, एक-एक स्वर तीर की भाँति दिल को छेदे डालता था। वहाँ बैठे न रह सके। उठकर एक आत्म-विस्मृत की दशा में दौड़े हुए झोंपड़े में गये, वहाँ से फिर वृक्ष के नीचे आए। उस पक्षी को कैसे पाएँ। कहीं दिखाई नहीं देता।

पक्षी का गाना बन्द हुआ, तो कुँअर को नींद आ गई। उन्हें स्वप्न में ऐसा जान पड़ा कि वही पक्षी उनके समीप आया। कुँअर ने ध्यान से देखा, तो वह पक्षी न था, चन्दा थी, प्रत्यक्ष चन्दा थी।

कुँअर ने पूछा—चन्दा यह पक्षी यहाँ कहाँ?

चन्दा ने कहा—मैं ही तो वह पक्षी हूँ।

कुँअर—तुम पक्षी हो! क्या तुम्हीं गा रही थीं?

चन्दा—हाँ प्रियतम, मैं ही गा रही थी। इसी तरह रोते एक युग बीत गया।

कुँअर—तुम्हारा घोंसला कहाँ है?

चन्दा—उसी झोंपड़े में, जहाँ तुम्हारी खाट थी। उसी खाट के बान से मैंने अपना घोंसला बनाया है।

कुँअर—और तुम्हारा जोड़ा कहाँ है?

चन्दा—मैं अकेली हूँ। चन्दा को अपने प्रियतम के स्मरण करने में, उसके लिए रोने में, जो सुख है वह जोड़े में नहीं, मैं इसी तरह अकेली रहूँगी और अकेली मरूँगी।

कुँअर—मैं क्या पक्षी नहीं हो सकता?

चन्दा चली गई। कुँअर की नींद खुल गई। ऊषा की लालिमा आकाश पर छाई हुई थी और वह चिड़िया, कुँअर की शय्या के समीप एक डाल पर बैठी चहक रही थी। अब उस संगीत में करुणा न थी, विलाप न था, उसमें आनन्द था, चापल्य था, सारस्य था। वह वियोग का करुण-क्रन्दन न हों, मिलन का मधुर संगीत था।

कुँवर सोचने लगे—इस स्वप्न का क्या रहस्य है?

(७)

कुँवर ने शय्या से उठते ही एक झाड़ू बनाया और उस झोंपड़े को साफ करने लगे। उनके जीते-जी इसकी यह भग्न-दशा नहीं रह सकती। वह इसकी दीवारें उठाएँगे, इस पर छप्पर डालेंगे, इसे लीपेंगे। इनमें उनका चन्द स्मृति वास करती है। झोंपड़े के एक कोने में वह काँवर रक्खी हुई थी, जिस पर पानी ला-लाकर वह इस वृक्ष को सींचते थे। उन्होंने काँवर उठा ली और पानी लाने लगे। दो दिन से कुछ भोजन न किया था। रात को भूख लगी हुई थी; पर इस समय भोजन की बिलकुल इच्छा न थी। देह में एक अद्भुत स्फूर्ति का अनुभव होता था। उन्होंने नदी से पानी ला-ला मिट्टी भिगोना शुरु किया। दौड़े जाते थे और दौड़े आते थे। इतनी शक्ति उनमें कभी न थी।

एक ही दिन में इतनी दीवार उठ गई, जितनी चार मजदूर भी न उठा सकते थे। और कितनी सीधी, चिकनी दीवार थी कि कारीगर भी देखकर लज्जित हो जाता। प्रेम की शक्ति अपार है।

सन्ध्या हो गई। चिड़ियों ने बसेरा लिया। वृक्षों ने भी आँखें बन्द कीं; मगर कुँवर को आराम कहाँ। तारों के मलिन प्रकाश में मिट्टी के ढ़े रक्खे जाते थे। हाय रे कामना! क्या तू इस बेचारे के प्राण ही लेकर छोड़ेगी?

वृक्ष पर पक्षी का मधुर स्वर सुनाई दिया। कुँवर के हाथ से घड़ा छूट पड़ा। हाथ और पैरों में मिट्टी लपेटे वह वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गए। उस स्वर में कितना लालित्य था, कितना उल्लास, कितनी ज्योति! मानव-संगीत इसके सामने बेसुरा आलाप था। उसमें यह जागृति, यह अमृत, यह जीवक कहाँ? संगीत के आनन्द में विस्मृति है; पर वह विस्मृति कितनी स्मृति-मय होती है, अतीत को जीवन और प्रकाश से रञ्जित करके प्रत्यक्ष कर देने की शक्ति, संगीत के सिवा और कहां है? कुँवर के हृदय-नेत्रों के सामने वह दृश्य आ खड़ा हुआ, जब चन्दा इसी पौधे को नदी से जल ला-लाकर सींचती थी। हाय, क्या वे दिन फिर आ सकते हैं!

सहसा एक बटोही आकर खड़ा हो गया और कुँअर को देखकर प्रश्न करने लगा, जो साधारणतः दो अपरिचित प्राणियों में हुआ करते हैं—कौन हो, कहाँ से आते हो कहाँ जाओगे? पहले वह भी इसी गाँव में रहता था; पर जब गाँव उजड़ गया, तो समीप के एक दूसरे गाँव में जा बसा था। अब भी उसके खेत यहाँ थे। रात को जङ्गली पशुओं से अपने खेतों की रक्षा करने के लिए वह यहीं आकर सोता था।

कुँवर ने पूछा—तुम्हें मालूम है, इस गाँव में एक कुबेरसिंह ठाकुर रहते थे ?

किसान ने बड़ी उत्सुकता से कहा—हाँ-हाँ भाई, जानता क्यों नहीं ! बेचारे यहीं तो मारे गये। तुमसे क्या उसकी जान-पहचान थी ?

कुँअर—हाँ, उन दिनों कभी-कभी आया करता था। मैं भी राजा की सेना में नौकर था। उनके घर में और कोई न था ?

किसान—अरे भाई कुछ न पूछो, बड़ी करुण-कथा है। उसकी स्त्री तो पहले ही मर चुकी थी। केवल लड़की बच रही थी। आह ! कैसी सुशीला, कैसी सुघड़ वह लड़की थी ! उसे देखकर आँखों में ज्योति आ जाती थी। बिलकुल स्वर्ग की देवी जान पड़ती थी। जब कुबेरसिंह जीता था, तभी कुँअर इन्द्रनाथ यहाँ भाग कर आये थे और उसके यहाँ रहे थे। उस लड़की की कुँअर से कहीं बात-चीत हो गई। जब कुँवर को शत्रुओं ने पकड़ लिया, तो चन्दा घर में अकेली रह गई। गाँववालों ने बहुत चाहा, कि उसका विवाह हो जाय। उसके लिए वरों का तोड़ा न था भाई, ऐसा कौन था, जो उसे पाकर अपने को धन्य न मानता ; पर वह किसी से विवाह करने पर राज़ी न हुई। यह पेड़ जो तुम देख रहे हो, तब छोटा-सा पौधा था। इसके आस-पास फूलों की कई और क्यारियाँ थीं। इन्हीं को गोड़ने, निराने, सींचने में उसका दिन कटता था। बस, यह कहती, कि हमारे कुँअर साहब आते होंगे।

कुँअर की आँखों से आँसू की वर्षा होने लगी। मुसाफिर ने

ज़रा दम लेकर कहा—दिन-दिन घुलती जाती थी। तुम्हें विश्वास न आयेगा भाई, उसने दस साल इसी तरह काट दिये। इतनी दुर्बल हो गई थी, कि पहचानी न जाती थी ; पर अब भी उसे कुँअर साहब के आने की आशा बनी हुई थी। आखिर एक दिन इसी वृक्ष के नीचे उसकी लाश मिली। ऐसा प्रेम कौन करेगा भाई ! कुँअर न जाने मरे कि जिए, कभी उन्हें इस विरहिणी की याद भी आती है, कि नहीं ; पर उसने तो प्रेम को ऐसा निभाया जैसा चाहिए।

कुँअर को ऐसा जान पड़ा, मानों हृदय फटा जा रहा है। वह कलेजा थामकर बैठ गए। मुसाफिर के हाथ में एक सुलगता हुआ उपला था। उसने चिलम भरी और दो-चार दम लगाकर बोला—उसके मरने के बाद यह घर गिर गया। गाँव पहले ही उजाड़ था। अब तो और भी सुनसान हो गया। दो-चार असामी यहाँ आ बैठते थे। अब तो चिड़िए का पूत भी यहाँ नहीं आता। उसके मरने के कई महीने के बाद, यही चिडिया इस पेड़ पर बोलती हुई सुनाई दी। तब से बराबर इसे यहाँ बोलते सुनता हूँ। रात को सभी चिड़ियाँ सो जाती हैं ; पर यह रात भर बोलती रहती है। उसका जोड़ा कभी नहीं दिखाई दिया। बस, बस, फुट्टैल है। दिन-भर उसी झोंपड़े में पड़ी रहती है। रात को इस पेड़ पर आ बैठती है; मगर इस समय इसके गाने में कुछ और ही बात है, नहीं तो सुनकर रोना आता है। ऐसा जान पड़ता है, मानो कोई कलेजे को मसोस रहा हो। मैं तो कभी-कभी पड़े-पड़े रो दिया करता हूँ।

सब लोग कहते हैं कि यह वही चन्दा है। अब भी कुँअर के वियोग में विलाप कर रही है। मुझे भी ऐसा ही जान पड़ता है। आज न-जाने क्यों मगन है।

किसान तम्बाकू पीकर सो गया। कुँअर कुछ देर तक खोया हुआ-सा खड़ा रहा। फिर धीरे से बोला—चन्दा, क्या सचमुच तुम्हीं हो? मेरे पास क्यों नहीं आतीं?

एक क्षण में चिड़िया आकर उसके हाथ पर बैठ गई। चन्द्रमा के प्रकाश में कुँअर ने चिड़िया को देखा। ऐसा जान पड़ा, मानो उनकी आँखें खुल गई हों, मानों आँखों के सामने से कोई आवरण हट गया हो। पक्षी के रूप में भी चन्दा की मुखाकृति अंकित थी।

दूसरे दिन किसान सोकर उठा, तो कुँअर की लाश पड़ी हुई थी।

(८)

कुँअर अब नहीं हैं; किन्तु इनके झोंपड़े की दीवारें बन गई हैं, ऊपर फूस का नया छप्पर पड़ गया है और झोंपड़े के द्वार पर फूलों की कई क्यारियाँ लगी हुई हैं। गाँव के किसान इससे अधिक और क्या कर सकते थे।

उस झोंपड़े में अब पक्षियों के एक जोड़े ने अपना घोंसला बनाया है। दोनों साथ-साथ दाने-चारे की खोज में जाते हैं, साथ-साथ आते हैं। रात को दोनों उसी वृक्ष की डाल पर बैठे दिखाई देते हैं। उनका सुरम्य संगीत, रात की नीरवता में दूर तक सुनाई

देता है। बन के जीव-जन्तु वह स्वर्गीय गान सुनकर मुग्ध हो जाते हैं।

यह पत्तियों का जोड़ा कुँअर और चन्दा का जोड़ा है, इसमें किसी को सन्देह नहीं है।

एक बार एक व्याध ने इन पत्तियों को फँसाना चाहा ; पर गाँववालों ने उसे मारकर भगा दिया।

---

(३) रानी सारन्धा

(१)
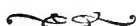
धेरी रात के सन्नाटे में धसान नदी चट्टानों से टकराती हुई ऐसी सुहावनी मालूम होती थी जैसे घुमुर-घुमुर करती हुई चक्कियाँ। नदी के दाहने तट पर एक टीला है। उस पर एक पुराना दुर्ग बना हुआ है, जिसको जङ्गली वृक्षों ने घेर रक्खा है। टीले के पूर्व की ओर एक छोटा-सा गाँव है। यह गढ़ी और गाँव दोनों एक बुन्देला सरदार के कीर्ति-चिह्न हैं। शताब्दियाँ व्यतीत हो गईं, बुन्देलखण्ड में कितने ही राज्यों का उदय और अस्त हुआ, मुसलमान आये और गये, बुन्देला राजा उठे और गिरे, कोई गाँव, कोई इलाका, ऐसा न था, जो इस दुर्व्यवस्थाओं से पीड़ित न हो; मगर इस दुर्ग पर किसी शत्रु की विजय-पताका न लहराई और इस गाँव में किसी विद्रोह का भी पदार्पण न हुआ। यह उसका सौभाग्य था।

अनिरुद्धसिंह वीर राजपूत था। वह जमाना ही ऐसा था, जब मनुष्य-मात्र को अपने बाहु-बल और पराक्रम ही का भरोसा था।

एक ओर मुसलमान सेनाएं पैर जमाये खड़ी रहती थीं, दूसरी ओर बलवान् राजा अपने निर्बल भाइयों का गला घोटने पर तत्पर रहते थे। अनिरुद्धसिंह के पास सवारों और पियादों का एक छोटा-सा, मगर सजीव, दल था। इससे वह अपने कुल और मर्य्यादा की रक्षा किया करता था। उसे कभी चैन से बैठना नसीब न होता था। तीन वर्ष पहले उसका विवाह शीलतादेवी से हुआ; मगर अनिरुद्ध बिहार के दिन और विलास की रातें पहाड़ों में काटता था और शीतला उसकी जान की खैर मनाने में। वह कितनी बार पति से अनुरोध कर चुकी थी, कितनी बार उसके पैरों पर गिरकर रोई थी, कि तुम मेरी आँखों से दूर न हो, मुझे हरिद्वार ले चलो मुझे तुम्हार साथ वन-वास अच्छा है, यह वियोग अब नहीं सहा जाता। उसने प्यार से कहा, जिद से कहा, विनय की; मगर अनिरुद्ध बुन्देला था। शीतला अपने किसी हथियार से उसे परास्त न कर सकी।

(२)

अँधेरी रात थी। सारी दुनिया सोती थी; मगर तारे आकाश में भागते थे। शीतलादेवी पलङ्ग पर पड़ी करवटें बदल रही थी और उसकी ननद सारन्धा फर्श पर बैठी हुई मधुर स्वर से गाती थी—

बिन रघुबीर कटत नहीं रैन।

शीतला ने कहा—जी न जलाओ। क्या तुम्हें भी नींद नहीं आती?

सारन्धा—तुम्हें लोरी सुना रही हूँ।

शीतला—मेरी आँखों से तो नींद लोप हो गई।

सारन्धा—किसी को ढूँढ़ने गई होगी।

इतने में द्वार खुला और एक गठे हुए बदन के रूपवान् पुरुष ने भीतर प्रवेश किया। यह अनिरुद्ध था। उसके कपड़े भीगे हुए थे, और बदन पर कोई हथियार न था। शीतला चारपाई से उतर कर जमीन पर बैठ गई।

सारन्धा ने पूछा—भैया, यह कपड़े भीगे क्यों हैं?

अनिरुद्ध—नदी पैरकर आया हूँ।

सारन्धा—हथियार क्या हुए?

अनिरुद्ध—छिन गये।

सारन्धा—और साथ के आदमी?

अनिरुद्ध—सबने वीर गति पाई।

शीतला ने दबी ज़बान से कहा—"ईश्वर ने ही कुशल किया..." मगर सारन्धा के तीवरों पर बल पड़ गये और मुखमण्डल गर्व से सतेज हो गया। बोली "भैया, तुमने कुल की मर्यादा खो दी। ऐसा कभी न हुआ था।"

सारन्धा भाई पर जान देती थी। उसके मुंह से यह धिक्कार सुनकर अनिरुद्ध लज्जा और खेद से विकल होगया। वह वीराग्नि जिसे क्षण भर के लिये अनुराग ने दबा दिया था, फिर ज्वलन्त हो गई। वह उल्टे पाँव लौटा और यह कहकर बाहर चला गया कि "सारन्धा, तुमने मुझे सदैव के लिये सचेत कर दिया। यह बात मुझे कभी न भुलेगी।"

अँधेरी रात थी। आकाश मण्डल में तारों का प्रकाश बहुत

धुँधला था। अनिरुद्ध किले से बाहर निकला। पलभर में नदी के उस पार जा पहुँचा, और फिर अन्धकार में लुप्त हो गया। शीतला उसके पीछे-पीछे किले की दीवारों तक आई; मगर जब अनिरुद्ध छलाँग मारकर बाहर कूद पड़ा, तो वह विरहिणी एक चट्टान पर बैठकर रोने लगी।

इतने में सारन्धा भी वहीं आ पहुँची। शीतला ने नागिन की तरह बल खाकर कहा—मर्यादा इतनी प्यारी है?

सारन्धा—हाँ।

शीतला—अपना पति होता, तो हृदय में छिपा लेतीं।

सारन्धा—न, छाती में छुरी चुभा देती।

शीतला ने ऐंठकर कहा—डोली में छिपाती फिरोगी, मेरी बात गिरह में बाँध लो।

सारन्धा—जिस दिन ऐसा होगा, मैं भी अपना वचन पूरा कर दिखाऊँगी।

इस घटना के तीन महीने पीछे अनिरुद्ध महरौना को जीत करके लौटा और साल-भर पीछे सारन्धा का विवाह ओरछा के राजा चम्पतराय से हो गया। मगर उस दिन की बातें दोनों महिलाओं के हृदय-स्थल में काँटे की तरह खटकती रहीं।

(३)

राजा चम्पतराय बड़े प्रतिभाशाली पुरुष थे। सारी बुँदेला जाति उनके नाम पर जान देती थी और उनके प्रभुत्व को मानती थी। गद्दी पर बैठते ही उसने मुग़ल बादशाहों को कर देना बन्द कर

दिया और अपने बाहुबल से राज्य-विस्तार करने लगा। मुसलमानों की सेनायें बार-बार उस पर हमले करती थीं; पर हार कर लौट जाती थीं।

यही समय था, जब अनिरुद्ध ने सारन्धा का चम्पतराय से विवाह कर दिया। सारन्धा ने मुँहमाँगी मुराद पाई। उसकी यह अभिलाषा कि मेरा पति बुँदेला जाति का कुल-तिलक हो, पूरी हुई। यद्यपि राजा के रनिवास में पाँच रानियाँ थीं, मगर उन्हें शीघ्र ही मालूम हो गया कि वह देवी जो हृदय में मेरी पूजा करती है, सारन्धा है।

परन्तु कुछ ऐसी घटनायें हुई कि चम्पतराय को मुगल-बादशाह का आश्रित होना पड़ा। वह अपना राज्य अपने भाई पहाड़सिंह को सौंपकर आप देहली को चला गया। यह शाहजहाँ के शासन-काल का अन्तिम भाग था। शाहज़ादा दारा शिकोह राजकीय-कार्यों को सँभालते थे। युवराज की आँखों में शील था और चित्त में उदारता। उन्होंने चम्पतराय की वीरता की कथायें सुनी थीं, इसलिए उसका बहुत आदर-सम्मान किया, और कालपी की बहुमूल्य जागीर उसके भेंट की, जिसकी आमदनी नौ लाख थी। यह पहला अवसर था कि चम्पतराय को आये-दिन की लड़ाई-झगड़े से निवृत्ति मिली और उसके साथ ही भोग-विलास का प्राबल्य हुआ। रात-दिन आमोद-प्रमोद की चर्चा रहने लगी। राजा विलास में डूबे, रानियाँ जड़ाऊ गहनों पर रीझीं। मगर सारन्धा इन दिनों बहुत उदास और संकुचित रहती। वह इन रहस्यों से दूर-दूर रहती, ये नृत्य और गान की सभायें से सूनी प्रतीत होतीं।

एक दिन चम्पतराय ने सारन्धा से कहा—सारन, तुम उदास क्यों रहती हो ? मैं तुम्हें कभी हँसते नहीं देखता। क्या मुझसे नाराज हो ?

सारन्धा की आँखों में जल भर आया। बोली—स्वामी जी ! आप क्यों ऐसा विचार करते है ? जहाँ आप प्रसन्न हैं, वहाँ मैं भी खुश हूँ।

चम्पतराय—मैं जब से यहाँ आया हूँ मैंने तुम्हारे मुख-कमल पर कभी मनोहारिणी मुसकिराहट नहीं देखी। तुमने कभी अपने हाथों से मुझे बीड़ा नहीं खिलाया। कभी मेरी पाग नहीं सँवारी कभी मेरे शरीर पर शस्त्र नहीं सजाये। कहीं प्रेमलता मुरझाने तो नहीं लगी ?

सारन्धा—प्राणनाथ ! आप मुझसे ऐसी बाते पूछते हैं, जिसका उत्तर मेरे पास नहीं है ! यथार्थ में इन दिनों मेरा चित्त कुछ उदास रहता है। मैं बहुत चाहती हूँ कि खुश रहूँ ; मगर एक बोझा-सा हृदय पर धरा रहता है।

चम्पतराय स्वयं आनन्द में मग्न थे। इसलिये उनके विचार में सारन्धा को असन्तुष्ट रहने का कोई उचित कारण नहीं हो सकता था। वे भौंहें सिकोड़कर बोले—मुझे तुम्हें उदास रहने का कोई विशेष कारण नहीं मालूम होता। ओरछे में कौन सा सुख था, जो यहाँ नहीं है ? सारन्धा का चेहरा लाल हो गया। बोली—मैं कुछ कहूँ, आप नाराज तो न होंगे ?

चम्पतराय—नहीं, शौक से कहो।

सारन्धा—ओरछा में मैं एक राजा की रानी थी। यहाँ मैं एक जागीरदार की चेरी हूँ। ओरछा में मैं वह थी जो अवध में कौशल्या थीं; परन्तु यहाँ मैं बादशाह के एक सेवक की स्त्री हूँ। जिस बादशाह के सामने आज आप आदर से सिर झुकाते हैं वह कल आपके नाम से काँपता था। रानी से चेरी होकर भी प्रसन्न-चित्त होना मेरे वश में नहीं है। आपने यह पद और ये विलास की सामग्रियाँ बड़े महँगे दामों में मोल ली हैं।

चम्पतरायके नेत्रों से एक पर्दा-सा हट गया। वे अब तक सारन्धा की आत्मिक उच्चता को न जानते थे। जैसे बे माँ-बाप का बालक माँ की चर्चा सुनकर रोने लगता है, उसी तरह ओरछा की याद से चम्पतराय की आँखें सजल हो गईं। उन्होंने आदर-युक्त अनुराग के साथ सारन्धा को हृदय से लगा लिया।

आज से उन्हें फिर उसी उजड़ी बस्ती की फिक्र हुई, जहाँ से धन और कीर्ति की अभिलाषायें खींच लाईं थीं।

(४)

माँ अपने खोये हुए बालक को पाकर निहाल हो जाती है। चम्पतराय के आने से बुन्देलखण्ड निहाल हो गया। ओरछा के भाग जागे। नौबतें झड़ने लगीं, और फिर सारन्धा के कमल-नेत्रों में जातीय अभिमान का आभास दिखाई देने लगा।

यहाँ रहते कई महीने बीत गये। इसी बीच में शाहजहाँ बीमार पड़ा। शाहज़ादाओं में पहले से ईर्षा की अग्नि दहक रही थी। यह ख़बर सुनते ही ज्वाला प्रचण्ड हुई। संग्राम की तैयारियाँ

होने लगीं। शाहज़ादा मुराद और मुहीउद्दीन अपने-अपने दल सजाकर दक्खिन से चले। वर्षा के दिन थे। उर्वरा भूमि रंग-बिरंग के रूप भरकर अपने सौन्दर्य्य को दिखाती थी।

मुराद और मुहीउद्दीन उमंगों से भरे हुए कदम बढ़ाते चले आते थे। यहाँ तक कि वे धौलपुर के निकट चम्बल के तट पर आ पहुँचे; परन्तु यहाँ उन्होंने बादशाही सेना को अपने शुभागमन के निमित्त तैयार पाया।

शाहज़ादे अब बड़ी चिन्ता में पड़े। सामने अगम्य नदी लहर मार रही थी, लोभ से भी अधिक विस्तारवाली। घाट पर लोहे की दीवार खड़ी थी, किसी योगी के त्याग के सदृश सुदृढ़। विवश होकर चम्पतराय के पास सँदेशा भेजा कि खुदा के लिए आकर हमारी डूबती हुई नाव को पार लगाइये।

राजा ने भवन में जाकर सारन्धा से पूछा—इसका क्या उत्तर दूँ।

सारन्धा—आपको मदद करनी होगी।

चम्पतराय—उनकी मदद करना दाराशिकोह से बैर लेना है।

सारन्धा—यह सत्य है; परन्तु हाथ फैलाने की मर्य्यादा भी तो निभानी चाहिये।

चम्पतराय—प्रिये! तुमने सोचकर जवाब नहीं दिया।

सारन्धा—प्राणनाथ! मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि यह मार्ग कठिन है और हमें अपने योद्धाओं का रक्त पानी के समान बहाना पड़ेगा; परन्तु हम अपना रक्त बहायेंगे, और चम्बल की लहरों

को लाल कर देंगे। विश्वास रखिए कि जब तक नदी की धारा बहती रहेगी, वह हमारे वीरों की कीर्ति-गान करती रहेगी। जब तक बुन्देलों का एक भी नाम-लेवा रहेगा, यह रक्त-बिन्दु उसके माथे पर केशर का तिलक बनकर चमकेगा।

वायु-मण्डल में मेघराज की सेनायें उमड़ रही थीं। ओरछे के किले से बुन्देलों की एक काली घटा उठी और वेग के साथ चम्बल की तरफ़ चली। प्रत्येक सिपाही वीर-रस से झूम रहा था। सारन्धा ने दोनों राजकुमारों को गले मे लगा लिया और राजा को पान का बीड़ा देकर कहा—बुन्देलों की लाज अब तुम्हारे हाथ है।

आज उसका एक-एक अंग मुसकिरा रहा है और हृदय हुलसित है। बुन्देलों की यह सेना देखकर शाहज़ादे फूले न समाये। राजा वहाँ की अंगुल-अंगुल-भूमि से परिचित थे। उन्होंने बुन्देलों को तो एक आड़ में छिपा दिया और वे शाहज़ादों की फ़ौज को सजाकर नदी के किनारे-किनारे पच्छिम की ओर चले। दारा-शिकोह को भ्रम हुआ, कि शत्रु किसी अन्य घाट से नदी उतरना चाहता है। उन्होंने घाट पर से मोर्चे हटा लिये। घाट में बैठे हुए बुन्देले इसी ताक में थे। बाहर निकल पड़े और उन्होंने तुरन्त ही नदी में घोड़े डाल दिये। चम्पतराय ने शाहज़ादा दाराशिकोह को भुलावा देकर अपनी फौज घुमा दी और वह बुन्देलों के पीछे चलता हुआ उसे पार उतार लाया। इस कठिन चालमें सात घंटों का विलम्ब हुआ; परन्तु जाकर देखा, तो सात सौ बुन्देला योद्धाओं की लाशें फड़क रही थीं।

राजा को देखते ही बुन्देलों की हिम्मत बँध गई। शाहज़ादा की सेना ने भी 'अल्लाहो-अकबर' की ध्वनि के साथ धावा किया। बादशाही सेना में हलचल पड़ गई। उनकी पंक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गई, हाथों-हाथ लड़ाई होने लगी, यहाँ तक कि शाम हो गई। रण-भूमि रुधिर से लाल हो गई और आकाश में अँधेरा हो गया। घमसान की मार हो रही। बादशाही सेना शाहजादों को दबाये आती थी। अकस्मात् पच्छिम से फिर बुन्देलों की एक लहर उठी और इस वेग से बादशाही-सेना की पुश्त पर टकराई कि उसके कदम उखड़ गये। जीता हुआ मैदान हाथ से निकल गया। लोगों को कौतूहल था कि यह दैवी सहायता कहाँ से आई। सरल-स्वभाव के लोगों की धारणा थी कि यह शतह के फरिश्ते हैं, शाहजादों की मदद के लिए आये हैं; परन्तु जब राजा चम्पतराय निकट गये, तो सारन्धा ने घोड़े से उतरकर उनके पद पर सिर झुका दिया। राजा को असीम आनन्द हुआ। यह सारन्धा थी।

समर-भूमि का दृश्य इस समय अत्यन्त दुःखमय था। थोड़ी देर पहले जहाँ सजे हुए वीरों के दल थे, वहाँ अब बे-जान लाशें फड़क रही थीं। मनुष्य ने अपने स्वार्थ के लिये आदि से ही भाइयों की हत्या की है।

अब विजयी सेना लूट पर टूटी। पहले मर्द-मर्दों से लड़ते थे अब वे मुर्दों से लड़ रहे थे। वह वीरता और पराक्रम का चित्र था, यह नीचता और दुर्बलता की ग्लानि-प्रद तसवीर थी। उस समय मनुष्य पशु बना हुआ था, अब वह पशु से भी बढ़ गया था।

इस नोच-खसोट में लोगों को बादशाही-सेना के सेनापति वली-बहादुरखाँ की लाश दिखाई दी। उसके निकट उसका घोड़ा खड़ा हुआ अपनी दुम से मक्खियाँ उड़ा रहा था। राजा को घोड़ों का शौक था। देखते ही वह उस पर मोहित हो गया। यह एराकी जाति का अति सुन्दर घोड़ा था। एक-एक अंग साँचे में ढला हुआ सिंहकी-सी छाती, चीतेकी-सी कमर, उसका यह प्रेम और स्वामि-भक्ति देखकर लोगों को बड़ा कौतूहल हुआ। राजा ने हुक्म दिया—"खबरदार! इस प्रेमी पर कोई हथियार न चलाये, इसे जीता पकड़ ले, यह मेरे अस्तबल की शोभा बढ़ायेगा। जो इसे मेरे पास लायेगा—उसे धन से निहाल कर दूँगा।"

योद्धागण चारों ओर से लपके; परन्तु किसी को साहस न होता था कि उसके निकट जा सके। कोई चुमकारता था, कोई फन्दे में फँसाने की फिक्र में था; पर कोई उपाय सफल न होता था। वहाँ सिपाहियों का एक मेला-सा लगा हुआ था।

तब सारन्धा अपने खेमे से निकली और निर्भय होकर घोड़े के पास चली गई। उसकी आँखों में प्रेम का प्रकाश था, छल का नहीं। घोडे ने सिर झुका दिया। रानी ने उसकी गर्दन पर हाथ रक्खा, और वह उसकी पीठ सुहलाने लगी। घोड़े ने उसके अञ्चल में मुँह छिपा लिया। रानी उसकी रास पकड़कर खेमे की ओर चली। घोड़ा इस तरह चुपचाप उसके पीछे चला, मानो सदैव से उसका सेवक है।

पर बहुत अच्छा होता कि घोड़े ने सारन्धा से भी निष्ठुर

की होती। यह सुन्दर घोड़ा आगे चलकर इस राज्य-परिवार के निमित्त रत्न-जटित मृग प्रतीत हुआ।

(५)

संसार एक रण-क्षेत्र है। इस मैदान में उसी सेनापति को विजय लाभ होता है, जो अवसर को पहचानता है। वह अवसर देखकर जितने उत्साह से आगे बढ़ता है, उतने ही उत्साह से आपत्ति के समय पर पीछे हट जाता है। वह वीर पुरुष राष्ट्र का निर्माता होता है, और इतिहास उसके नाम पर यश के फूलों की वर्षा करता है।

पर इस मैदान में कभी-कभी ऐसे सिपाही भी आ जाते हैं, जो अवसर पर कदम बढ़ाना जानते हैं; लेकिन संकट में पीछे हटना नहीं जानते। यह रणधीर पुरुष विजय को नीति भेंट कर देता है। वह अपनी सेना का नाम मिटा देगा; किन्तु जहाँ पर एक बार पहुँच गया है, वहाँ से कदम पीछे न हटायेगा। उनमें कोई बिरला ही संसार-क्षेत्र में विजय प्राप्त करता है; किन्तु प्रायः उसकी हार विजय से भी गौरवात्मक होती है। अगर वह अनुभवशील सेनापति राष्ट्रों की नीव डालता है, तो यह आप पर जान देनेवाला, यह मुँह न मोड़नेवाला सिपाही राष्ट्र के भावों को उच्च करता है, और उसके हृदय पर नैतिक गौरव को अंकित कर देता है। उसे इस कार्य-क्षेत्र में चाहे सफलता न हो; किन्तु जब किसी वाक्य या सभा में उसका नाम ज़बान पर आ जाता है, तो श्रोता-गण एक

स्वर से उसके कीर्ति-गौरव को प्रतिध्वनित कर देते हैं। सारन्धा इन्हीं 'आन पर जान देनेवालों' में थी।

शाहज़ादा मुहीउद्दीन चम्बल के किनारे से आगरे की ओर चला, तो सौभाग्य उसके सिर पर मोर्छल हिलाता था। जब वह आगरे पहुँचा तो विजयदेवी ने उसके लिये सिंहासन सजा दिया।

औरंगजेब गुणज्ञ था। उसने बादशाही सरदारों के अपराध क्षमा कर दिये, उनके राज्य-पद लौटा दिये और राजा चम्पतराय को उसके बहुमूल्य कृत्यों के उपलक्ष में 'बारह हज़ारी मन्सब' प्रदान किया। ओरछा से बनारस और बनारस से यमुना तक उसकी जागीर नियत की गई। बुंदेला राजा फिर राज्य-सेवक बना, वह फिर सुख-विलास में डूबा, और रानी सारन्धा फिर पराधीनता के शोक से घुलने लगी।

वली-बहादुरखाँ बड़ा वाक्यचतुर मनुष्य था। उसकी मृदुलता ने शीघ्र ही उसे बादशाह आलमगीर का विश्वास-पात्र बना दिया। उस पर राज-सभा में सम्मान की दृष्टि पड़ने लगी।

खाँसाहब के मनमें अपने घोड़े के हाथ से निकल जाने का बड़ा शोक था। एक दिन कुंवर छत्रसाल उसी घोड़े पर सवार होकर सैर को गया था। वह ख़ाँसाहब के महल के तरफ़ जा निकला। वली-बहादुर ऐसे ही अवसर की ताक में था। उसने तुरत अपने सेवकों को इशारा किया। राजकुमार अकेला क्या करता! पाँव पाँव घर आया, और उसने सारन्धा से सब समाचार बयान किया। रानी का चेहरा तमतमा गया। बोली—"मुझे इसका शोक नहीं कि

घोड़ा हाथ से गया ; शोक इसका है कि तू उसे खोकर जीता क्यों लौटा ; क्या तेरे शरीर में बुन्देलों का रक्त नहीं है ? घोड़ा न मिलता न सही ; किन्तु तुझे दिखा देना चाहिए था कि एक बुँदेला-बालक से उसका घोड़ा छीन लेना हँसी नहीं है।"

यह कहकर उसने अपने पच्चीस योद्धाओं को तैयार होने की आज्ञा दी, स्वयं अस्त्र धारण किये और योद्धाओं के साथ वली-बहादुरखाँ के निवास-स्थान पर जा पहुँची। खाँसाहब उसी घोड़े पर सवार होकर दरबार चले गये थे। सारन्धा दरबार की तरफ़ चली, और एक क्षण में किसी वेगवती नदी के सदृश बादशाही दरबार के सामने जा पहुँची। यह कैफियत देखते ही दरबार में हलचल मच गई। अधिकारी- वर्ग इधर-उधर से आकर जमा हो गये। आलमगीर भी सहन से निकल आये ! लोग अपनी-अपनी तलवारें सँभालने लगे और चारों तरफ शोर मच गया। कितने ही नेत्रों ने इसी दरबार में अमरसिंह की तलवार की चमक देखी थी। उन्हें वही घटना फिर याद आ गई।

सारन्धा ने उच्च स्वर से कहा—"खाँसाहब ! बड़ी लज्जा की बात है। कि आपने वह वीरता जो, चम्बल के तट पर दिखानी चाहिए थी, आज एक अबोध बालक के सम्मुख दिखाई है। क्या यह उचित था कि आप उससे घोड़ा छीन लेते ?"

वली-बहादुरखाँ की आँखों से अग्नि-ज्वाला निकल रही थी। वे कड़ी आवाज़ से बोले—"किसी गैर को क्या मजाज़ है कि मेरी चीज अपने काम में लाये ?"

रानी—वह आपकी चीज़ नहीं, मेरी है। मैंने उसे रण-भूमि में पाया है और उस पर मेरा अधिकार है। क्या रणनीति की इतनी मोटी बात भी आप नहीं जानते ?

खाँसाहब—वह घोड़ा मैं नहीं दे सकता, उसके बदले में सारा अस्तबल आपको नज़र है।

रानी—मैं अपना घोड़ा लूँगी।

खाँसाहब—मैं उसके बराबर जवाहरात दे सकता हूँ; परन्तु घोड़ा नहीं दे सकता।

रानी—तो फिर इसका निश्चय तलवरों से होगा।

बुन्देला-योद्धाओं ने तलवारें सौंत लीं और निकट था कि दरबार की भूमि रक्त से प्लावित हो जाय कि बादशाह आलमगीर ने बीच में आकर कहा—'रानी साहबा ! आप सिपाहियों को रोकें। घोड़ा आपको मिल जायगा ; परन्तु उसका मूल्य बहुत देना पड़ेगा।

रानी—मैं उसके लिये अपना सर्वस्व त्याग ने पर तैयार हूँ।

बादशाह—जागीर और मन्सब भो ?

रानी—जागीर और मन्सब कोई चीज़ नहीं।

बादशाह—अपना राज्य भी ?

रानी—हाँ राज्य भी।

बादशाह—एक घोड़े के लिये ?

रानी—नहीं उस पदार्थ के लिये, जो संसार में सबसे अधिक मूल्यवान् है।

बादशाह—वह क्या है ?

रानी—अपनी आन।

इस भाँति रानी ने एक घोड़े के लिए अपनी विस्तृत जागीर, उच्च राज्यपद और राज-सम्मान सब हाथ से खोया और केवल इतना ही नहीं, भविष्य के लिए काँटे बोये। इस घड़ी से अन्त दशा तक चम्पतराय को शान्ति न मिली।

(६)

राजा चम्पतराय ने फिर ओरछे के क़िले में पदार्पण किया। उन्हें मन्सब और जागीर के हाथ से निकल जाने का अत्यन्त शोक हुआ; किन्तु उन्होंने अपने मुँह से शिकायत का एक शब्द भी नहीं निकाला। वे सारन्धा के स्वभाव को भली-भाँति जानते थे। शिकायत इस समय उसके आत्म-गौरव पर कुठार का काम करता। कुछ दिन यहाँ शान्ति पूर्वक व्यतीत हुए; लेकिन बादशाह सारन्धा की कठोर बातें भूला न था। वह क्षमा करना जानता ही न था। ज्यों ही भाइयों की ओर से निश्चिन्त हुआ, उसने एक बड़ी सेना चम्पतराय का गर्व पूर्ण करने के निमित्त भेजी और बाईस अनुभवशील सरदार इस मुहीम पर नियुक्त किये। शुभकरण बुँदेला बादशाह का सूबेदार था। वह चम्पतराय का बचपन का मित्र और सहपाठी था। उसने चम्पतराय को परास्त करने का बीड़ा उठाया। और भी कितने बुँदेला ही सरदार राजा से विमुख होकर बादशाही सूबेदार से आ मिले। एक घोर संग्राम हुआ। भाइयों की तलवारें रक्त से लाल हुईं। यद्यपि इस समर में राजा को विजय प्राप्त हुई; लेकिन उनकी शक्ति सदा के लिए क्षीण हो

गई। निकटवर्ती बुँदेला राजा, जो चम्पतराय के बाहु-बल थे, बादशाह के कृपाकांक्षी बन बैठे! साथियों में कुछ तो काम आये, कुछ दगा कर गये। यहाँ तक कि निज सम्बन्धियों ने भी आँखें चुरा लीं; परन्तु इन कठिनाइयों में भी चम्पतराय ने हिम्मत नहीं हारी। धीरज को न छोड़ा। उन्होंने ओरछा छोड़ दिया और तीन वर्ष तक बुँदेलखण्ड के सघन पर्वतों पर छिपे फिरते रहे। बादशाही सेनाएँ शिकारी जानवरों की भाँति सारे देश में मँड़रा रही थीं। आये-दिन राजा का किस-न-किसी से सामना हो जाता था। सारन्धा सदैव उनके साथ रहती और उनका साहस बढ़ाया करती। बड़ी-बड़ी आपत्तियों में भी, जब कि धैर्य्य लुप्त हो जाता—और आशा साथ छोड़ देती—आत्मरक्षा का धर्म्म उसे सँभाले रहता था। तीन साल के बाद अन्त में बादशाह के सूबेदारों ने आलमगीर को सूचना दी, कि इस शेर का शिकार आपके सिवाय और किसी से न होगा। उत्तर आया, कि सेना को हटा लो और घेरा उठा लो। राजा ने समझा, संकट से निवृत्ति हुई; पर यह बात शीघ्र ही भ्रमात्मक सिद्ध हो गई।

(७)

तीन सप्ताह से बादशाही सेना ने ओरछा घेर रक्खा है। जिस तरह कठोर वचन हृदय को छेद डालते हैं, उसी तरह तोपों के गोलों ने दीवारों को छेद डाला है। किले में २० हजार आदमी घिरे हुए हैं; लेकिन उनमें आधे से अधिक स्त्रियाँ और उनसे कुछ ही कम बालक हैं। मर्दों की संख्या दिनोदिन न्यून होती जाती

है, आने-जाने के मार्ग चारों तरफ़ से बन्द हैं। हवा का भी गुज़र नहीं। रसद का सामान बहुत कम रह गया है। स्त्रियाँ, पुरुषों और बालकों को जीवित रखने के लिये आप उपवास करती हैं। लोग बहुत हताश हो रहे हैं। औरतें सूर्य्यनारायण की ओर हाथ उठा-उठाकर शत्रु को कोसती हैं। बालकवृन्द मारे क्रोध के दीवारों की आड़ से उन पर पत्थर फेंकते हैं, जो मुश्किल से दीवार के उस पार जाते हैं। राजा चम्पतराय स्वयम् ज्वर से पीड़ित हैं। उन्होंने कई दिन से चारपाई नहीं छोड़ी। उन्हें देखकर लोगों को कुछ ढारस होता था; लेकिन उनकी बीमारी से सारे किले में नैराश्य छाया हुआ है।

राजा ने सारन्धा से कहा—आज शत्रु ज़रूर किले में घुस आयेंगे।

सारन्धा—ईश्वर न करे कि इन आँखों से वह दिन देखना पड़े।

राजा—मुझे बड़ी चिन्ता इन अनाथ स्त्रियों और बालकों की है। गेहूँ के साथ यह घुन भी पिस जायेंगे।

सारन्धा—हम लोग यहाँ से निकल जायें, तो कैसा?

राजा—इन अनाथों को छोड़कर?

सारन्धा—इस समय इन्हें छोड़ देने ही में कुशल है। हम न होंगे, तो शत्रु इन पर कुछ दया अवश्य ही करेंगे।

राजा—नहीं, यह लोग मुझसे न छोड़े जायेंगे। जिन मर्दों ने अपनी जान हमारी सेवा में अर्पण कर दी है, उनकी स्त्रियों और बच्चों को मैं यों कदापि नहीं छोड़ सकता।

सारन्धा—लेकिन यहाँ रहकर हम उनकी कुछ मदद भी तो नहीं कर सकते।

"राजा उनके साथ प्राण तो दे सकते हैं? मैं उनकी रक्षा में अपनी जान लड़ा दूँगा। उनके लिये बादशाही सेना की खुशामद करूँगा। कारावास की कठिनाइयाँ सहूँगा; किन्तु इस संकट में उन्हें छोड़ नहीं सकता।"

सारन्धा ने लज्जित होकर सिर झुका लिया और सोचने लगी—निस्सन्देह अपने प्रिय साथियों को आग की आँच में छोड़कर अपनी जान बचाना घोर नीचता है। मैं ऐसी स्वार्थांध क्यों होगई हूँ; लेकिन फिर एकाएक विचार उत्पन्न हुआ। बोली—यदि आपको विश्वास हो जाय, कि इन आदमियों के साथ कोई अन्याय न किया जायगा, तबतो आपको चलने में कोई बाधा न होगी?

राजा—(सोचकर) कौन विश्वास दिलायेगा?

सारन्धा—बादशाह के सेनापति का प्रतिज्ञापत्र।

राजा—हाँ, तब मैं सानन्द चलूँगा।

सारन्धा विचार-सागर में डूबी। बादशाह के सेनापति से क्योंकर यह प्रतिज्ञा कराऊँ? कौन यह प्रस्ताव लेकर वहाँ जायगा और वे निर्दयी ऐसी प्रतिज्ञा करने ही क्यों लगे। उन्हें तो अपनी विजय की पूरी आशा है। मेरे यहाँ ऐसा नीति-कुशल, वाक्पटु, चतुर कौन है, जो इस दुस्तर कार्य्य को सिद्ध करे। छत्रसाल चाहे तो कर सकता है। उसमें ये सब गुण मौजूद हैं।

इस तरह मन में निश्चित करके रानी छत्रसाल को बुलाया

यह उसके चारों पुत्रों में सबसे बुद्धिमान् और साहसी था। रानी उसे सबसे अधिक प्यार करती थी। जब छत्रसाल ने आकर रानी को प्रणाम किया, तो उसके कमलनेत्र सजल हो गये और हृदय से दीर्घ निःश्वास निकल आया।

छत्रसाल—माता, मेरे लिये क्या आज्ञा है?

रानी—आज लड़ाई का क्या ढंग है?

छत्रसाल—हमारे पचास योद्धा अब तक काम आ चुके हैं।

रानी—बुँदेलों की लाज अब ईश्वर के हाथ है।

छत्रसाल—हम आज रात को छापा मारेंगे।

रानी ने संक्षेप में अपना प्रस्ताव छत्रसाल के सामने उपस्थित किया और कहा—"यह काम किसको सौंपा जाये?

छत्रसाल—मुझको।

"तुम इसे पूराकर दिखाओगे?"

"हाँ, मुझे पूर्ण विश्वास है।"

"अच्छा जाओ, परमात्मा तुम्हारा मनोरथ पूरा करे।"

छत्रसाल जब चला, तो रानी ने उसे हृदय से लगा लिया और तब आकाश की ओर दोनों हाथ उठाकर कहा—दयानिधे, मैंने अपना तरुण और होनहार पुत्र बुँदेलों की आन के आगे भेंटकर दिया। अब इस आन को निभाना तुम्हारा काम है। मैंने बड़ी मूल्यवान् वस्तु अर्पित की है। इसे स्वीकार करो।

(८)

दूसरे दिन प्रातःकाल सारन्धा स्नान करके थाल में पूजा की

सामग्री लिये मन्दिर को चली। उसका चेहरा पीला पड़ गया था और आँखों-तले अँधेरा छाया जाता था। वह मन्दिर के द्वार पर पहुँची थी, कि उसके थाल में बाहर से आकर एक तीर गिरा। तीर की नोक पर एक कागज का पुर्जा लिपटा हुआ था। सारन्धा ने थाल मन्दिर के चबूतरे पर रख दिया और पुर्जे को खोलकर देखा, तो आनन्द से चेहरा खिल गया; लेकिन यह आनन्द क्षण-भर का मेहमान था। हाय! इस पुर्जे के लिये मैंने अपना प्रिय पुत्र हाथ से खो दिया है। कागज़ के टुकड़े को इतने महँगे दामों किसने लिया होगा?

मन्दिर से लौटकर सारन्धा राजा चम्पतराय के पास गई और बोली—प्राणनाथ! आपने जो वचन दिया था, उसे पूरा कीजिये। राजा ने चौंककर पूछा—तुमने अपना वादा पूरा कर लिया? रानी ने वह प्रतिज्ञा-पत्र राजा को दे दिया। चम्पतराय ने उसे गौरव से देखा, फिर बोले—अब मैं चलूँगा और ईश्वर ने चाहा, तो एक बेर फिर शत्रुओं की खबर लूँगा; लेकिन सारन! सच बताओ, इस पत्र के लिये क्या देना पड़ा?

रानी ने कुण्ठित स्वर से कहा—बहुत कुछ।

राजा—सुनूँ?

रानी—एक जवान पुत्र।

राजा को बाण-सा लगा। पूछा—कौन? अंगदराय?

रानी—नहीं।

राजा रतनसाह?

रानी—नहीं।

राजा—छत्रसाल ?

रानी—हाँ।

जैसे कोई पक्षी गोली खाकर परों को फड़फड़ाता है और तब बेदम होकर गिर पड़ता है, उसी भाँति चम्पतराय पलँग से उछले और फिर अचेत होकर गिर पड़े। छत्रसाल उनका परमप्रिय पुत्र था। उनके भविष्य की सारी कामनाएँ उसी पर अवलम्बित थीं। जब चेत हुआ, तो बोले—सारन, तुमने बुरा किया ; अगर छत्रसाल मारा गया, तो बुँदेला-वंश का नाश हो जायगा !

अँधेरी रात थी। रानी सारन्धा घोड़े पर सवार चम्पतराय को पालकी में बैठाये किले के गुप्त मार्ग से निकली जाती थी। आज से बहुत काल पहले जब एक दिन ऐसी ही अँधेरी, दुःखमय रात्रि थी, तब सारन्धा ने शीतलादेवी को कुछ कठोर बचन कहे थे। शीतलादेवी ने उस समय जो भविष्यद्वाणी की थी, वह आज पूरी हुई। क्या सारन्धा ने उसका जो उत्तर दिया था, वह भी पूरा होकर रहेगा ?

(९)

मध्याह्न था। सूर्यनारायण सिर पर आकर अग्नि की वर्षा कर रहे थे। शरीर को झुलसानेवाली प्रचण्ड, प्रखर वायु, बन और पर्वतों में आग लगाती फिरती थी। ऐसा विदित होता था, मानो अग्निदेव की समस्त सेना गरजती हुई चली आ रही है। गगन-मण्डल इस भय से काँप रहा था। रानी सारन्धा घोड़े पर सवार,

चम्पतराय को लिये, पच्छिम की तरफ चली जाती थी। ओरछा दस कोस पीछे छूट चुका था, और प्रतिक्षण यह अनुमान स्थिर होता जाता कि अब हम भय के क्षेत्र से बाहर निकल आये। राजा पालकी में अचेत पड़े हुए थे और कहार पसीने में शराबोर थे। पालकी के पीछे पाँच सवार घोड़ा बढ़ाये चले आते थे, प्यास के मारे सबका बुरा हाल था। तालू सूखा जाता था। किसी वृक्ष की छाँह और कुएँ की तलाश में आँखें चारों ओर दौड़ रही थीं।

अचानक सारन्धा ने पीछे की तरफ फिरकर देखा, तो उसे सवारों का एक दल आता हुआ दिखाई दिया। उसका माथा ठनका कि अब कुशल नहीं है। ये लोग अवश्य हमारे शत्रु हैं। फिर विचार हुआ कि शायद मेरे राजकुमार अपने आदमियों को लिए हमारी सहायता को आ रहे हैं। नैराश्य में भी आशा साथ नहीं छोड़ती। कई मिनट तक वह इसी आशा और भय की अवस्था में रही। यहाँ तक कि वह दल निकट आ गया और सिपाहियों के वस्त्र साफ नज़र आने लगे। रानी ने एक ठण्ढी साँस ली, उसका शरीर तृणवत् काँपने लगा। यह बादशाही सेना के लोग थे।

सारन्धा ने कहारों से कहा—डोली रोक लो। बुँदेला सिपाहियों ने भी तलवारें खींच लीं। राजा की अवस्था बहुत शोचनीय थी; किन्तु जैसे दबी हुई आग हवा लगते ही प्रदीप्त हो जाती है, उसी प्रकार इस संकट का ज्ञान होते ही उनके सर्जर शरीर में वीरात्मा चमक उठी। वे पालकी का पर्दा उठाकर बाहर निकल आये। धनुष-बाण हाथ में ले लिया; किन्तु वह धनुष, जो उनके हाथ में

इन्द्र का वज्र बन जाता था, इस समय जरा भी न झुका। सिर में चक्कर आया, पैर थर्राये और वे धरती पर गिर पड़े। भावी अमंगल की सूचना मिल गई, उस पंख-रहित पक्षी के सदृश, जो साँप को अपनी तरफ आते देखकर ऊपर को उचकता और फिर गिर पड़ता है। राजा चम्पतराय फिर सँभल कर उठे और फिर गिर पड़े। सारन्धा ने सँभालकर बैठाया, और रोकर बोलने की चेष्टा की; परन्तु मुँह से केवल इतना निकला—प्राणनाथ!—इसके आगे उसके मुँह से एक शब्द भी न निकल सका। आनपर मरनेवाली सारन्धा इस समय साधारण स्त्रियों की भाँति शक्तिहीन हो गई; लेकिन एक अंक तक यह निर्बलता स्त्री जाति की शोभा है।

चम्पतराय बोले—सारन! देखो हमारा एक और वीर ज़मीन पर गिरा। शोक! जिस आपत्ति से यावज्जीवत डरता रहा, उसने इस अन्तिम समय आ घेरा। मेरी आँखों के सामने शत्रु तुम्हारे कोमल शरीर में हाथ लगायेंगे, और मैं जगह से हिल भी न सकूँगा। हाय! मृत्यु तू कब आयगी! यह कहते-कहते उन्हें एक विचार आया। तलवार की तरफ़ हाथ बढ़ाया; मगर हाथों में दम न था। तब सारन्धा से बोले—प्रिये! तुमने कितने ही अवसरों पर मेरी आन निभाई है।

इतना सुनते ही सारन्धा के मुरझाये हुये मुखपर लाली दौड़ गई, आँसू सूख गये। इस आशा ने कि मैं अब भी पति के कुछ काम आ सकती हूँ, उसके हृदय में बल का संचार कर दिया। व

राजा की ओर विश्वासोत्पादकभाव से देखकर बोली—ईश्वर ने चाहा, तो मरते दमतक निबाहूँगी।

रानी ने समझा, राजा मुझे प्राण दे देने का संकेत कर रहे हैं

चम्पयराम—तुमने मेरी बात कभी नहीं टाली।

सारन्धा – मरते दम तक न टालूँगी।

राजा—यह मेरी अन्तिम याचना है। इसे अस्वीकार न करना।

सारन्धा ने तलवार को निकाल कर अपने वक्षःस्थल पर रख लिया और कहा—यह आप की आज्ञा नहीं है, मेरी हार्दिक अभिभाषा है कि मरूँ, तो यह मस्तक आप के पदकमलों पर हो।

चम्पतराय—तुमने मेरा मतलब नहीं समझा। क्या तुम मुझे इसलिये शत्रुओं के हाथ में छोड़ जाओगी कि मैं बेड़ियाँ पहने हुए दिल्ली की गलियों में निन्दा का पात्र बनूँ?

रानी ने जिज्ञासा-दृष्टि से राजा को देखा। वह उनका मतलब न समझी।

राजा—मैं तुमसे एक वरदान माँगता हूँ।

रानी—सहर्ष माँगिये।

राजा—यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है। जो कुछ कहूँगा, करोगी?

रानी—सिर के बल करूँगी।

राजा—देखो, तुमने बचन दिया है। इनकार न करना।

रानी—(काँपकर) आपके कहने की देर है।

राजा—अपनी तलवार मेरी छाती में चुभा दो।

रानी के हृदय पर वज्रपात-सा हो गया। बोली—जीवन-

नाथ!—इसके आगे वह और कुछ न बोल सकी—आँखों में नैराश्य छा गया।

राजा—मैं बेड़ियाँ पहनने के लिये जीवित रहना नहीं चाहता।

रानी—हाय मुझसे यह कैसे होगा।

पाँचवाँ और अन्तिम सिपाही धरती पर गिरा। राजा ने झुँझलाकर कहा—इसी जीवट पर आन निभाने का गर्व था?

बादशाह के सिपाही राजा की तरफ़ लपके। राजा ने नैराश्य-पूर्ण भाव से रानी की ओर देखा। रानी क्षण भर अनिश्चित-रूप से खड़ी रही; लेकिन संकट में हमारी निश्चयात्मक शक्ति बल-वान् हो जाती है। निकट था कि सिपाही लोग राजा को पकड़ लें कि सारन्धा ने दामिनी की भाँति लपक कर अपनी तलवार राजा के हृदय में चुभा दी!

प्रेम की नाव प्रेम के सागर में डूब गई। राजा के हृदय से रुधिर की धारा निकल रही थी; पर चेहरे पर शान्ति छाई हुई थी, कैसा करुण दृश्य है! वह स्त्री जो अपने पति पर प्राण देती थी, आज उसकी प्राणघातिका है। जिस हृदय से अलिङ्गित होकर उसने यौवन-सुख लूटा, जो हृदय उसकी अभिलाषाओं का केन्द्र था, जो हृदय उगके अभिमान का पोषक था, उसी हृदय को आज सारन्धा की तलवार छेद रही है। किस स्त्री की तलवार से ऐसा काम हुआ है!

आह! आत्मभिमान का कैसा विषादमय अन्त है। उदयपुर और मारवाड़ के इतिहास में भी आत्म-गौरव की ऐसी घटनाएँ नहीं मिलतीं।

बादशाही सिपाही सारन्धा का यह साहस और धैर्य्य देखकर दंग रह गये। सरदार ने आगे बढ़कर कहा—रानी साहबा! खुदा गवाह है; हम सब आपके गुलाम हैं। आपका जो हुक्म हो, उसे ब-सरो-चश्म बजा लायेंगे।

सारन्धा ने कहा—अगर हमारे पुत्रों में से कोई जीवित हो, तो ये दोनों लाशें उसे सौंप देना।

यह कहकर उसने वही तलवार अपने हृदय में चुभा ली। जब वह अचेत होकर धरती पर गिरी, तो उसका सिर राजा चम्पतराय की छाती पर था।

———————

(४) आत्माराम

---

(१)

दो ग्राम में महादेव सोनार एक सुविख्यात आदमी था। वह अपने सायबान में प्रातः से सन्ध्या तक अँगीठी के सामने बैठा हुआ खटखट किया करता था। यह लगातार ध्वनि सुनने के लोग इतने अभ्यस्त हो गये थे कि जब किसी कारण वह बन्द होजाती, तो जान पड़ता था, कोई चीज़ गायब हो गई है। वह नित्य-प्रति एक बार प्रातःकाल अपने तोते का पिंजरा लिये कोई भजन गाता हुआ तालाब की ओर जाता था। उस धुँधले प्रकाश में उसका जर्जर शरीर, पोपला मुँह और झुकी हुई कमर देखकर किसी अपरिचित मनुष्य को उसके पिशाच होने का भ्रम हो सकता था। ज्योंही लोगों के कानों में आवाज़ आती—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' लोग समझ जाते कि भोर हो गया।

महादेव का पारिवारिक जीवन सुखमय न था। उसके तीन पुत्र थे, तीन बहुएँ थीं, दर्जनों नाती-पोते थे; लेकिन उसके बोझ को हल्का करनेवाला कोई न था। लड़के कहते—जब तक दादा

जीते हैं, हम जीवन का आनन्द भोग लें, फिर तो यह ढोल गले पड़ेहीगा। बेचारे महादेव को कभी-कभी निराहार ही रहना पड़ता। भोजन के समय उसके घर में साम्यवाद का ऐसा गगनभेदी निर्घोष होता कि वह भूखा ही उठ आता और नारियल का हुक्का पीता हुआ सो जाता। उसका व्यवसायिक जीवन और भी अशान्तिकारक था। यद्यपि वह अपने काम में निपुण था, उसकी खटाई औरों से कहीं ज्यादा शुद्धिकारक और उसकी रासायनिक क्रियाएँ कहीं ज्यादा कष्टसाध्य थीं, तथापि उसे आये-दिन शक्की और धैर्यशून्य प्राणियों के अपशब्द सुनने पड़ते थे ; पर महादेव अविचलित गाम्भीर्य्य से सिर झुकाये सब कुछ सुना करता। ज्योंही यह कलह शान्त होता, वह अपने तोते की ओर देखकर पुकार उठता—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' इस मन्त्र के जपते ही उसके चित्त को पूर्ण शांति प्राप्त हो जाती थी।

(२)

एक दिन संयोगवश किसी लड़के ने पिंजरे का द्वार खोल दिया। तोता उड़ गया। महादेव ने सिर उठाकर जो पिंजरे की ओर देखा, तो उसका कलेजा सन्न-से हो गया। तोता कहाँ गया! उसने फिर पिंजरे को देखा, तोता गायब था। महादेव घबराकर उठा और इधर-उधर खपरैलों पर निगाह दौड़ाने लगा। उसे संसार में कोई वस्तु प्यारी थी, तो वह यही तोता था। लड़के-बालों, नाती-पोतों से उसका जी भर गया था। लड़कों की चुल-बुल से उसके काम में विघ्न पड़ता था ; बेटों से उसे प्रेम न था,

इसलिये नहीं कि वे निकम्मे थे ; बल्कि इसलिये कि इनके कारण वह अपने आनन्ददायी कुल्हड़ों की नियमित संख्या से बंचित रह जाता था। ड़ोसियों से उसे चिढ़ थी ; इसलिये कि वह उसकी अँगीठी से आग निकाल ले जाते थे। इस समस्त विघ्न-बाधाओं से उसके लिये कोई पनाह थी, तो वह यही तोता था। इससे उसे किसी प्रकार का कष्ट न होता था। वह अब उस अवस्था में था, जब मनुष्य को शान्ति-भोग के सिवा और कोई इच्छा नहीं रहती।

तोता एक खपरैल पर बैठा था। महादेव ने पिंजरा उतार लिया और उसे दिखाकर कहने लगा—'आ, आ, सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' लेकिन गाँव और घर के लड़के एकत्र होकर चिल्लाने और तालियाँ बजाने लगे, ऊपर से कौवों ने काँव-काँव की रट लगाई। तोता उड़ा और गाँव से बाहर निकलकर एक पेड़ पर जा बैठा। महादेव खाली पिंजरा लिये उसके पीछे दौड़ा, हाँ दौड़ा। लोगों को उसकी द्रुतगामिता पर अचंभा हो रहा था। मोह की इससे सुन्दर, इससे सजीव, इससे भावमय कल्पना नहीं की जा सकती।

दोपहर हो गया था। किसान लोग खेतों से चले आ रहे थे, उन्हें विनोद का अच्छा अवसर मिला। महादेव को चिढ़ाने में सभी को मजा आता था, किसी ने कंकर फेंके, किसी ने तालियाँ बजाईं, तोता फिर उड़ा और यहाँ से दूर आम के बाग में एक पेड़ की फुनगी पर जा बैठा। महादेव फिर खाली पिंजरा लिये मेढक की भाँति उचकता हुआ चला। बाग में पहुँचा, तो पैर के

तलुओं से आग निकल रही थी, सिर चक्कर खा रहा था। जब जरा सावधान हुआ, तो फिर पिंजरा उठाकर कहने लगा, 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' तोता फुनगी से उतरकर नीचे की एक डाल पर आ बैठा; किन्तु महादेव की ओर सशंक नत्रोंसे ताक रहा था। महादेव ने समझा—डर रहा है। वह पिंजरे को छोड़कर आप एक दूसरे पेड़ की आड़ में छिप गया। तोते ने चारों ओर गौर से देखा, निश्शंक हो गया, उतरा और आकर पिंजरा के ऊपर बैठ गया। महादेव का हृदय उछलने लगा। 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त' का मंत्र जपता हुआ धीरे-धीरे तोते के समीप आया, और लपका कि तोते को पकड़ लें; किन्तु तोता हाथ न आया, फिर पेड़ पर जा बैठा।

साँझ पक यही हाल रहा। तोता कभी इस डाल पर जाता, कभी उस डाल पर। कभी पिंजरे पर आ बैठता, कभी पिंजरे के द्वार पर बैठ अपने दाना-पानी की प्यालियों को देखता, फिर उड़ जाता। बुड्ढा अगर मूर्तिमान मोह था; तो तोता मूर्तिमती माया। यहाँ तक कि शाम हो गई, माया और मोह का यह संग्राम अंधकार में विलीन हो गया।

(३)

रात हो गई। चारों ओर निबिड़ अन्धकार छा गया। तोता न-जाने पत्तों में कहाँ छिपा बैठा था। महादेव जानता था कि रात को तोता कहीं उड़कर नहीं जा सकता और न पिंजरे ही में आ सकता है, तिस पर भी वह इस जगह से हिलने का नाम न

लेता था। आज उसने दिन भर कुछ नहीं खाया, रात के भोजन का समय भी निकल गया, पानी की एक बूँद भी उसके कंठ में न न गई; लेकिन उसे न भूख थी न प्यास। तोते के बिना उसे अपना जीवन निस्सार, शुष्क और सूना जान पड़ता था। वह दिन-रात काम करता था; इसलिये कि यह उसकी अंतःप्रेरणा थी, जीवन के और काम इसलिये करता था कि आदत थी। इन कामों में उसे अपनी सजीविता का लेशमात्र भी ज्ञान न होता था। तोता ही वह वस्तु था, जो उस चेतना की याद दिलाता था। उसका हाथ से जाना जीव का देहत्याग करना था।

महादेव दिन-भर का भूखा-प्यासा, थका-माँदा, रहरहकर, झप-कियाँ ले लेता था; किन्तु एक क्षण में फिर चौंककर आँख खोल देता और उस विस्तृत अंधकार में उसको आवाज़ सुनाई देती— 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।'

आधीरात गुजर गई थी। सहसा वह कोई आहट पाकर चौंका, तो देखा कि दूसरे एक वृक्ष के नीचे एक धुंधला दीपक जल रहा है और कई आदमी बैठे हुए आपस में कुछ बातें कर रहे हैं। वह सब चिलम पी रहे थे। तमाखू की महक ने उसे अधीर कर दिया। उच्च स्वर से बोला—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' और उन आदमियों की ओर चिलम पीने चला; किन्तु जिस प्रकार बन्दूक की आवाज़ सुनते ही हिरन भाग जाते हैं, उसी प्रकार उसे आते देख वह सब-के-सब उठ कर भागे। कोई इधर गया, कोई उधर। महादेव चिल्लाने लगा—'ठहरो—ठहरो।' एकाएक उसे

ध्यान आ गया, यह सब चोर हैं। वह जोर से चिल्ला उठा—'चोर चोर, पकड़ो, पकड़ो !'—चोरों ने पिछे फिरकर भी न देखा।

महादेव दीपक के पास गया, तो उसे एक कलशा रखा हुआ मिला। मोरचे से काला हो रहा था। महादेव का हृदय उछलने लगा। उसने कलशे में हाथ डाला तो मोहरें थीं। उसने एक मोहर बाहर निकाली और दीपक के उजाले में देखा—हाँ, मोहर थी। उसने तुरन्त कलशा उठा लिया ; दीपक बुझा दिया और पेड़ के नीचे छिपकर बैठ रहा। साहु से चोर बन गया।

उसे फिर शंका हुई, ऐसा न हो चोर लौट आयें और मुझे अकेला देखकर मोहरें छीन लें। उसने कुछ मोहरें कमर में बाँधी, फिर एक सूखी लकड़ी से जमीन की मिट्टी हटाकर कई गड्ढे बनाए, उन्हे मोहरों से भरकर मिट्टी से ढक दिया।

(४)

महादेव के अन्तःनेत्रों के सामने अब एक दूसरा ही जगत् था, चिन्ताओं और कल्पनाओं से परिपूर्ण। यद्यपि अभी कोष के हाथ से निकल जानेका भय था ; पर अभिलाषाओं ने अपना काम शुरु कर दिया। एक पक्का मकान बन गया, सराफे की एक भारी दूकान खुल गई, निज सम्बन्धियों से फिर नाता जुड़ गया, विलास की सामग्रियाँ एकत्र हो गईं, तब तीर्थयात्रा करने चले और वहाँ से लौटकर बड़े समारोह से यज्ञ-ब्रह्मभोज हुआ। इसके पश्चात् एक शिवालय और कुआँ बन गया, एक उद्यान भी आरो-

पित हो गया और वहाँ वह नित्यप्रति कथा पुराण सुनने लगा साधु-सन्तों का आदर-सत्कार होने लगा।

अकस्मात् उसे ध्यान आया, कहीं चोर आजायं तो मैं भागूँगा क्योंकर। उसने परीक्षा करने के लिए कलशा उठाया और दो सौ पग तक बेतहाशा भागा हुआ चला गया। जान पड़ता था, उसके पैरों में पर लग गये हैं। चिन्ता शान्त हो गई। इन्हीं कल्पनाओं में रात व्यतीत होगई। उषा का आगमन हुआ, हवा जगी, चिड़ियाँ गाने लगीं। सहसा महादेव के कानों में आवाज़ आई—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।'

यह बोल सदैव महादेव की जिह्वा पर रहता था, दिन में सहस्रों ही बार ये शब्द उसके मुख से निकलते थे; पर उसका धार्मिक भाव कभी उसके अन्तःकरण को स्पर्श न करता था। जैसे किसी बाजे से राग निकलता है, उसी प्रकार उसके मुँह से यह बोल निकलता था, निरर्थक और प्रभावशून्य। तब उसका हृदय-रूपी वृक्ष पत्र-पल्लव-विहीन था। यह निर्मल वायु उसे गुंजरित न कर सकती थी; पर अब उस वृक्ष में कोपलें और शाखाएँ निकल आई थीं। इस वायु-प्रवाह से वह झूम उठा—गुंजित हो गया।

अरुणोदय का समय था। प्रकृति एक अनुरागमय प्रकाश में डूबी हुई थी। उसी समय तोता परों को जोड़े ऊँची डाली से उतरा, जैसे आकाश से कोई तारा टूटे, और आकर पिंजरे में बैठ

गया। महादेव प्रफुल्लित होकर दौड़ा और पिंजरे को उठा कर बोला—आओ आत्माराम, तुमने कष्ट तो बहुत दिया; पर मेरा जीवन भी सुफल कर दिया। अब तुम्हें चाँदी के पिंजरे में रक्खूँगा और सोने से मढ़ दूँगा—उसके रोम-रोम से परमात्मा के गुणानुवाद की ध्वनि निकलने लगी। प्रभु तुम कितने दयावान् हो, यह तुम्हारा असीम वात्सल्य है, नहीं तो मुझ-जैसा पापी पतित प्राणी, कब इस कृपा के योग्य था। इन पवित्र भावों से उसकी आत्मा विह्वल हो गई, वह अनुरक्त होकर बोल उठा—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्तदाता'
राम के चरण में चित्त लागा।'

उसने एक हाथ में पिंजरा लटकाया, बगल में कलशा दबाया और घर चला।

(५)

महादेव घर पहुँचा, तो अभी कुछ अँधेरा था। रास्ते में एक कुत्ते के सिवाय और किसी से भेंट न हुई और कुत्ते को मोहरों से विशेष प्रेम नहीं होता। उसने कलशे को एक नाँद में छिपा दिया और उसे कोयले से अच्छी तरह ढक कर अपनी कोठरी में रख आया। जब दिन निकल आया, तो वह सीधे पुरोहित जी के घर जा पहुँचा पुरोहित जी पूजा पर बैठे सोच रहे थे—कल ही मुकदमे में की पेशी है और अभी तक हाथ में कौड़ी भी नहीं, जजमानों में कोई साँस भी नहीं लेता। इतने में महादेव ने पालागन किया।

पण्डित जी ने मुँह फेर लिया, यह अमंगलमूर्ति कहाँ से आ पहुँची, मालूम नहीं दाना भी मयस्सर होगा या नहीं। रुष्ट होकर पूछा—क्या है जी, क्या कहते हो, जानते नहीं कि हम इस बेला पूजा पर रहते हैं?—महादेव ने कहा—महाराज आज मेरे यहाँ सत्य-नारायन की कथा है।

पुरोहित जी बिस्मित हो गये, कानों पर विश्वास न हुआ। महादेव के घर कथा होना उतनी ही असाधारण घटना थी, जितनी अपने घर से किसी भिखारी के लिये भीख निकालना। पूछा—आज क्या है?

महादेव बोला—कुछ नहीं, ऐसी ही इच्छा हुई कि आज भगवान् की कथा सुन लूँ।

प्रभात ही से तैयारी होने लगी। बेंदो और अन्य निकटवर्ती गावों में सुपारी फिरी। कथा के उपरान्त भोज का भी नेवता था जो सुनता आश्चर्य करता—यह आज रेत में दूब कैसे जमी!

संध्या समय जब सब लोग जमा हो गये, पंडित जी अपने सिंहासन पर विराज मान हुए, तो महादेव खड़ा होकर उच्चस्वर से बोला—भाइयो, मेरी सारी उम्र छल-कपट में कट गई। मैंने न-जाने कितने आदमियों को दगा दिया, कितना खरे को खोटा किया; पर अब भगवान ने मुझपर दया की है, वह मेरे मुँह की कालिख को मिटाना चाहते हैं। मैं आप सभी भाइयों से ललकार कर कहता हूँ कि जिसका मेरे जिम्मे जो कुछ आता हो, जिसकी जमा मैंने मार ली हो, जिसके चोखे माल को खोटा कर दिया हो, वह

आकर अपनी एक-एक कौड़ी चुका ले, अगर कोई यहाँ न आ सका हो, तो आप लोग उससे जाकर कह दीजिये, कलसे एक महीने तक जब जी चाहे आवे और अपना हिसाब चुकता कर ले। गवाही-साखी का काम नहीं।—सब लोग सन्नाटे में आ गये। कोई मार्मिक भाव से सिर हिलाकर बोला—हम कहते न थे? किसी ने अविश्वास से कहा—क्या खाके भरेगा! हजारों का टोटल हो जायगा।

एक ठाकुर ने ठठोली की—और जो लोग सुरधाम चले गये?

महादेव ने उत्तर दिया—उनके घरवाले तो होंगे।

किन्तु इस समय लोगों को वसूली की इतनी इच्छा न थी, जितनी यह जानने की कि इसे इतना धन मिल कहाँ से गया। किसी को महादेव के पास आने का साहस न हुआ। देहात के आदमी थे, गड़े मुर्दे उखाड़ना क्या जानें। फिर प्रायः लोगों को याद भी न था कि उन्हें महादेव से क्या पाना है और ऐसे पवित्र अवसर पर भूल-चूक हो जाने का भय उनका मुँह बन्द किये हुए था। सबसे बड़ी बात यह थी कि महादेव की साधुता ने उन्हें वशीभूत कर लिया था।

अचानक पुरोहितजी बोले—तुम्हें याद है, मैंने तुम्हें एक कंठा बनाने के लिए सोना दिया था और तुमने कई माशे तौल में उड़ा दिये थे।

महादेव—हाँ याद है, आपका कितना नुकसान हुआ होगा?

पुरोहित—५०) से कम न होगा।

महादेव ने कमर से दो मोहरें निकालीं और पुरोहितजी के सामने रख दीं।

पुरोहित की लोलुपता पर टीकायें होने लगीं। यह बेईमानी है, बहुत तो दो-चार रुपये का नुकसान हुआ होगा। बेचारे से ५०) एठ लिये। नारायण का भी डर नहीं। बनने को पंडित, पर नीयत ऐसी खराब! राम राम!

लोगों को महादेव से एक श्रद्धा-सी हो गई। एक घंटा बीत गया; पर उन सहस्रों मनुष्यों में से एक भी न खड़ा हुआ। तब महादेव ने फिर कहा—मालूम होता है, आप लोग अपना-अपना हिसाब भूल गये हैं; इसलिये आज कथा होने दीजिये, मैं एक महीने तक आपकी राह देखूँगा। इसके पीछे तीर्थ-यात्रा करने चला जाऊँगा। आप सब भाइयों से मेरी विनती है कि आप मेरा उद्धार करें।

एक महीने तक महादेव लेनदारों की राह देखता रहा। रात को चोरों के भय से नींद न आती। अब वह कोई काम न करता। शराब का चसका भी छूटा। साधु-अभ्यागत जो द्वार पर आ जाते, उनका यथायोग्य सत्कार करता। दूर-दूर उसका सुयश फैल गया। यहाँ तक कि महीना पूरा हो गया और एक आदमी भी हिसाब चुकाने न आया। अब महादेव को ज्ञात हुआ कि संसार में कितना धर्म, कितना सद्व्यवहार है। अब उसे मालूम हुआ कि संसार बुरों के लिये बुरा है; पर अच्छों के लिये अच्छा है।

(६)

इस घटना को हुए ५० वर्ष बीत चुके हैं। आप बेंदो जाइये, तो

दूर ही से एक सुनहला कलश दिखाई देता है। यह ठाकुरद्वारे का कलश है। उसमें मिला हुआ एक पक्का तालाब है, जिसमें खूब कमल खिले रहते हैं। उसकी मछलियाँ कोई नहीं पकड़ता। तालाब के किनारे एक विशाल समाधि है। यही आत्माराम की स्मृति-चिह्न है। उनके सम्बन्ध में विभिन्न किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं। कोई कहता है—उनका रत्नजटित पिंजरा स्वर्ग को चला गया; कोई कहता है—वह 'सत्त गुरुदत्त' कहते हुए अंतर्धान हो गये; पर यथार्थ यह है कि उस पक्षीरूपी चन्द्र को किसी बिल्ली रूपी राहु ने ग्रस लिया। लोग कहते हैं, आधी रात को अभी तक तालाब के किनारे आवाज आती है—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।'

महादेव के विषय में भी कितनी जन-श्रुतियाँ हैं। उनमें सबसे मान्य यह है कि आत्माराम के समाधिस्थ होने के बाद वह कई सन्यासियों के साथ हिमालय चले गये और वहाँ से लौटकर न आये। उनका नाम आत्माराम प्रसिद्ध हो गया।

५—श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी बी० ए०

आप मध्यप्रदेश के निवासी और प्रसिद्ध मासिक-पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादक हैं। आपकी शैली बहुत ही प्रौढ़ विचार-शील और कटाक्ष-पूर्ण है। आपने प्राच्य और पाश्चात्य-साहित्य का गहरा अध्ययन किया है। 'साहित्य-विमर्श' में आपने संसार-साहित्य की मार्मिक विवेचना की है। आप सुकवि भी हैं।

कमलावती

---

(१)

स्तम !"

"जनाब !"

"क्या यह वही स्थान है ?"

"जी हाँ, यह वही गुर्ज्जर-प्रदेश है ।"

"रुस्तम ! क्या सत्य ही यह गुर्ज्जर-प्रदेश है ? क्या हम लोगों ने इसी को ध्वंस करने का विचार किया है ? क्या इसी के लिये हमने यह छद्म-वेष रचा है ? रुस्तम ! सच कहो, क्या यही समुद्र-मेखला, गिरि-किरीटिनी, गुर्ज्जर-भूमि है ?"

"हुजूर जो अनुमान करते हैं वह सत्य है । कृष्ण-वर्ण छाया के सदृश सम्मुख जो देख पड़ती है वही गुर्ज्जर की तटभूमि है ।"

"रुस्तम, इन पर्वत-श्रेणियों की शोभा तो देखो, कितने ऊँचे हैं ! जान पड़ता है कि गगन-नीलिमा को स्पर्श करने के लिये ये गर्व भाव से इतने उन्नत हो गये हैं । कैसा अलौकिक सौन्दर्य है ! ऐसा दृश्य हमने अफ़गानिस्थान में कभी नहीं देखा था । रुस्तम, यह स्वर्ग-भूमि तो नहीं है ? इसके मलय-प्रवाह में कैसी संजीविनी शक्ति है ! चन्द्र-ज्योत्स्ना कैसी उज्ज्वल और स्निग्ध है ।"

सन्ध्या का समय है। गुर्ज्जर-तट की ओर एक नाव धीरे-धीरे जा रही है। माँझी हिन्दू हैं और आरोहीगण हिन्दू-वेषी मुसलमान। संख्या में वे लोग ६ हैं। चार तो नाव के भीतर थे, और दो ऊपर बैठे कथोपकथन कर रहे थे। पाठकों ने अभी उन्हीं लोगों का वार्तालाप सुना है।

जिस समय की कथा हम लिख रहे हैं, उस समय ग़ज़नीपति सुलतान महमूद भारतवर्ष पर आक्रमण-पर-आक्रमण कर रहा था। भारत के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नगरों का ध्वंस कर, इस बार उसने गुर्ज्जर पर कठोर दृष्टिपात किया था। गुर्ज्जर में सोमनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर था। सुलतान उसी को हस्तगत करना चाहता था; पर उसका लेना सहज नहीं था। उसके अधीश्वर थे, गुर्ज्जर देशाधिपति। महमूद ने सुना था कि गुर्ज्जर का अधिपति बड़ा पराक्रमी है। उनका सैन्यबल कितना है, यह जानने की इच्छा से सुलतान ने स्थल-पथ से तीन बार गुप्त-चर भेजे; पर एक भी लौट कर न आया। उन लोगों का कुछ संवाद भी न मिला।

इस बार महमूद ने अपने भ्रातृ-पुत्र से, ग़ज़नी के भविष्य अधिकारी शाह जमालखाँ और प्रधान सेनापति रुस्तम को भेजा था। इनके साथ चार सैनिक भी आये थे। ये लोग स्थल-पथ से न आकर समुद्र-पथ से आये। रुस्तमखाँ ने अनेक बार सुलतान के साथ उत्तर-भारत में यात्रा की थी। वह अनेक भाषा जानता था, गुर्ज्जर-देश की भी भाषा से अनभिज्ञ न था, इससे यात्रा में इन लोगों को कष्ट न सहना पड़ा और न किसी ने इन पर सन्देह ही

किया। दो दिन समुद्र में बिताकर तीसरे दिन ये सोमनाथ-बन्दर पहुँच गये।

नाव खड़ी की गई। सब उतरे। रुस्तम ने माँझियों को एक सुवर्ण-मुद्रा दी। वह मुद्रा गुजरात की ही थी, जो पहले से प्राप्त कर ली गई थी। माँझी गण बिदा हुए और ये लोग भी पाषाण-खण्डों पर बैठकर विश्राम करने लगे।

समीप में ही सोमनाथ का मन्दिर था। उसके स्वर्ण-मण्डित शिखर पर चन्द्र-रश्मि के पड़ने के कारण एक अपूर्व शोभा होती थी। वह शोभा अनिर्वचनीय थी।

क्रमशः सन्ध्या बढ़ने लगी। आरती का समय आया। भगवान् सोमनाथ की आरती होने लगी। दमामा और घंटों की ध्वनि मिलकर एक गम्भीर नाद उत्पन्न करती थी। वह नाद समुद्र के भीषण गर्जन से मिलकर आकाश-मंडल को कँपा देता था। आरती हो जाने पर वेद-पाठी ब्राह्मण सुमधुर स्वर से सोमनाथ की स्तुति करने लगे। निशा की निस्तब्धता को भंगकर वह स्वर क्रमशः पवन में फैलने लगा। उस मधुर स्वर से चन्द्रालोक-प्लावित पृथ्वीतल पुलकायमान हो उठा।

शाह जमाल स्थिर दृष्टि से उधर ही देख रहा था। वह न जाने क्या सोचता था!

रुस्तम बोला—हुजूर की क्या मरजी है? चलिये, किसी मुसाफिरख़ाने में चलकर ठहरें। हमें अपनी चिन्ता नहीं है; पर आप को कष्ट न हो। सुलतान ने हमें यही आज्ञा दी है।

जमालखाँ ने विरक्त होकर कहा—चुप, चुप, रुस्तम ! सुलतान का नाम लेने की क्या जरूरत है ? जानते नहीं हो, हम लोग कहाँ हैं ?—रुस्तम चुप हो गया। भूल उसी की थी।

जमालखाँ ने कहा—रुस्तम, कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। क्या नगर में इससे अच्छा स्थान मिलेगा ? हम लोग यहीं विश्राम करेंगे। इधर देखो, क्या वे सब तारे हैं ? अहो, क्या इस देश के तारों में इतना वर्ण-वैचित्र्य है ? देखो तो सही, नीले, पीले, लाल और श्वेत तारागणों से, इस नभ-मण्डल की कैसी शोभा हो रही है !

रुस्तम—जनाब, आप भूल करते हैं। ये तारे नहीं, सोमनाथ के मन्दिर-शिखर में लगे हुए रत्न हैं।

जमाल—हाँ, सोमनाथ का क्या इतना ऐश्वर्य !

रुस्तम—जनाब, सोमनाथ का ऐश्वर्य विश्व-विश्रुत है।

जमाल—जब बाहर इतना है, तब भीतर न-जाने कितना होगा ! पर रुस्तम, सच कहो, ऐसा कभी तुमने कहीं देखा भी था ? ऊपर आकाश में चन्द्र की निर्मल ज्योति, नीचे उसी विमल ज्योति से प्लावित मन्दिर-चूड़ा में स्थित रत्नों की ज्योति ! रुस्तम, क्या कहीं और भी ऐसा होगा ? मैं गुर्ज्जर की यह नैसर्गिक शोभा देखकर मुग्ध हो गया।

रुस्तम—जनाब, और कहीं आप ऐसा न देखियेगा। सुलतान इसीलिये तो हस्तगत करना चाहते हैं और छद्म-वेष धारण कर हम लोगों के यहाँ आने का प्रयोजन भी यही है।

जमालख़ाँ ने एक दीर्घ निःश्वास लेकर कहा—रुस्तम, क्या कहते हो ? हम लोग इस सुन्दर देश को नष्ट करेंगे ? इस स्वर्ण-भूमि को ध्वंस करेंगे ? अग्नि-दाह कर इस नन्दन-कानन को भस्म करेंगे ? क्या खुदा ने इसीलिये इसको इतनी शोभा-सम्पत्ति दी है ? क्या हम लोग इस शान्ति-मय देश को शोणित-मय करेंगे ? नहीं, नहीं। रुस्तम, ऐसा कभी नहीं होगा। हम ऐसा कदापि नहीं करेंगे।

रुस्तमख़ाँ घोर हिन्दू-द्वेषी, सुलतान का उपयुक्त सेनापति था। वह यह बात सुन नहीं सका; पर करता क्या ? धीरे से बोला—आख़िर आपका मन्सूबा क्या है ?

जमालख़ाँ—यह तो हमने पहले ही बतला दिया। रुस्तम, जिस विजय-वासना ने सुलतान के हृदय को पाषाण बना दिया है, जिसके कारण उन्होंने भारत को आज ध्वंस कर डाला है, ख़ुदा की पवित्र-भूमि में रक्त-प्रवाह बहाया है, जिसके कारण भारत आज श्मशान हो गया है, वह दुर्दमनीय वासना हमारे हृदय में नहीं है। मैं अफ़गानिस्थान के पार्वत्य राज्य से ही सन्तुष्ट हूँ, मुझे यह ऐश्वर्य्य नहीं चाहिये। मैं सच कहता हूँ, मुझसे इस सौन्दर्य्य-शालिनी भूमि के सर्वनाश का कार्य्य नहीं बनेगा।

रुस्तम ने गम्भीर स्वर से कहा—जनाब, आप कहते क्या हैं ? आते समय सुलतान ने आपको यह तलवार दी थी, इसे स्पर्श कर आपने सुलतान की आज्ञा-पालन करने की प्रतिज्ञा की थी। क्या आप अपनी तलवार की गौरव-रक्षा नहीं करेंगे ?

जमाल—रुस्तम, स्वाधीन अफ़ग़ानिस्थान मेरी जन्म-भूमि है और मैं एक स्वाधीन नराधिप के क्रोड़ में आजन्म परिपालित हुआ हूँ। वह स्वाधीनता मैं नहीं छोड़ सकता। सुलतान को मैंने अपनी देह बेच दी; पर अपने विवेक को नहीं बेचा है। इस देह पर सुलतान का पूरा अधिकार है; पर मेरा विवेक स्वाधीन है। उस पर सुलतान का कोई अधिकार नहीं है। सुलतान चाहें, तो अभी मैं उनके लिये प्राण दे दूँ और वे इस प्राण-विहीन देह को लेकर कुत्तों के सामने डाल द; पर मैं अपने विवेक के विरुद्ध काम नहीं करूँगा। रुस्तम, तुम यह तलवार ले लो, इसे सुलतान के पैरों के नीचे डालकर कहना, कि जमाल अब अफ़ग़ानिस्थान को नहीं लौटेगा। वह अब स्वाधीन है। वे उसके अपराध की मार्जना करें; य ही उसका अन्तिम अनुरोध है।

यह कहकर शाह जमाल ने रुस्तम की ओर देखा। रुस्तम चुप था। जमालख़ ने फिर कहना शुरू किया—रुस्तम, चुप क्यों हो? क्या तुम्हारे हृदय में पीड़ा `नहीं होती? तुम भी वीर-श्रेष्ठ, स्वाधीनता की गोद वर्द्धित, तेजस्वी अफ़ग़ान हो; हाय! यह क्या करते हो? रुस्तम! उस दिन का स्मरण क्यों नहीं करते, जब तुमने अपने अपूर्व साहस से सुलतान की प्राण-रक्षा की थी और जब सुलतान ने कृतज्ञ होकर तुम्हें पुरस्कार देना चाहा था? याद है, तब तुमने क्या कहा था? 'जनाब, बन्दा आपकी प्रजा है। प्रजा का कर्तव्य है, राजा को रक्षा करना। पुरस्कार का कोई प्रयोजन नहीं।' रुस्तम, तुम्हारा वह तेज कहाँ है? तुम्हारा वह दर्प,

वह साहस और वह वीरत्व अब कहाँ है ? आज तुच्छ धन और सम्मान के लोभ से रुस्तम ! वीर रुस्तम ! सुलतान के एक घृणित कार्य्य का समर्थन करता है ! एक दिन जो साहस दरिद्र रुस्तम ने दिखलाया था, वह आज धनिक रुस्तम नहीं दिखला सकता !! हाय, हाय, रुस्तम, यह क्या करते हो ? ज़रा सोचो तो सही, तुम यह क्या करने चले हो ?—शाहज़ादा चुप हो गया। रुस्तम सोचने लगा—शाहज़ादे का कहना सच है। सुलतान सत्य ही अन्याय करते हैं। तब क्या रुस्तम सुलतान के विरुद्ध चलेगा ? उनकी आज्ञा भंग करेगा ? सावधान, रुस्तम ! सावधान ! शाह जमाल कुछ भी करें ; पर तुम सुलतान के बिरुद्ध काम मत करना ; नहीं तो तुम्हारी हृदयेश्वरी, प्रियतमा रुखिया बीबी और प्रिय पुत्र, जिन्हें तुम सुलतान के महल में छोड़ आये हो, जल्लादों के हाथ पड़ेंगे। सुलतान उन लोगों को जीता न छोड़ेगा।

रुस्तम बोला—तब आपकी इच्छा क्या है ? हम लोग यहीं भिक्षा माँगकर जीवन व्यतीत करें, अथवा गुप्त-चर के हाथ पड़-कर प्राण खोवें ?

शाह जमाल—क्यों ? भिक्षा क्यों माँगेंगे ? क्या गुर्ज्जर-देश वासियों में दया और आतिथ्य-सत्कार का इतना अभाव है ? विश्वास रक्खो, यदि हम लोग गुर्ज्जर-नृपति से अपना सारा हाल कह देंगे, तो वे हम लोगों का अनिष्ट नहीं करेंगे ! सुनते हैं कि हिन्दू शरणागत शत्रुओं का वध नहींकरते। तब किसका भय ?

रुस्तम और सह न सका। वह उन्माद-वश भृकुटि-भंग कर

बोला—शाहज़ादे, आप हमें क्षमा कीजिये। आप विश्वास-घातक के समान यह कह रहे हैं। हमसे यह न होगा।

विश्वास-घातक !—शाहजमाल का शरीर जल उठा। रुस्तम की यह धृष्टता सह्य न हो सकी। तुरन्त तलवार खींच, व्याघ्र के समान भीषण गर्जना कर बोले—शैतान, तेरी इतनी स्पर्द्धा ! एक अन्याय के समर्थन न करने से हम विश्वास-घातक हो गये !

चन्द्र के आलोक में जमाल खाँ की तलवार चमक उठी। क्षण-भर में एक भयानक काण्ड हो जाता ; परन्तु दैवेच्छा से वह रुक गई। उसी समय पीछे से किसी ने जमाल खाँ का हाथ पकड़ लिया। स्वतः शाहज़ादे ने पीछे फिर कर देखा। वह एक रमणी थी। शाहज़ादा विस्मय-विमुग्ध हो बोला—तुम कौन हो ? हमारे काम में विघ्न क्यों डाला ?

(२)

उस रमणी ने हँसकर तिरस्कार-व्यञ्जक स्वर से कहा—आत्म-विवाद कभी अच्छा नहीं होता। आप लोग क्यों विवाद करते थे ?

शाहजमाल ने ऐसा कंठ-स्वर कभी नहीं सुना था। वीणा-ध्वनि के समान वह स्वर अत्यन्त मधुर था। उत्तर देने के लिये वह कामिनी की ओर फिरा ; पर उस रूप-राशि की ओर वह देखता ही रह गया। उत्तर न दे सका। उसने मन-ही-मन सोचा—ऐसी अपूर्व रूप-राशि और फिर ऐसी अलौकिक शक्ति ! निश्चय ही यह रमणी कोई देवी है।—उस रमणी ने फिर कहा—गुर्ज्जर की यह

पवित्र भूमि किसी विदेशी के रक्त से रञ्जित न हो, यही हमारी इच्छा थी और इसीलिये हमने तुम्हारे हाथ से तलवार ले ली।

शाहज़ादे ने चकित होकर पूछा—यह तुमसे किसने कहा कि हम लोग विदेशी हैं ?

रमणी—तुम्हारे इस कार्य ने। गुर्ज्जर-देश के सम्पूर्ण अधिवासी, हज़ार कारण होने पर भी, अपने देश-बन्धु के शोणित से इस भूमि को कलंकित न करेंगे और तुम यही करने चले थे।

शाह—(उठकर) रमणी ! तुम कौन हो ?

रमणी—मैं भगवान् सोमनाथ की दासी हूँ।

शाह—क्या तुमने हम लोगों की सब बातें सुन लीं ?

रमणी—हाँ।

शाह—बताओ तो हम कौन हैं ?

रमणी—आप गुर्ज्जर के घोर शत्रु हैं।

शाह—(हँसकर) रमणी, तुमने भूल की है, हम लोग काश्मीर के वणिक् हैं।

रमणी—नहीं साहब, मैं भूलती नहीं हूँ। आप सुलतान महमूद के भ्रातृ-पुत्र शाहज़ादे हैं और ये रुस्तम।

शाह जमाल चमक उठा। मुख मलीन हो गया। वह बोला—रमणी, तुम्हारे साथ और कोई है ?

रमणी—नहीं साहब, मैं अकेली हूँ।

शाह जमाल—तुम एक रूपवती रमणी हो। फिर भी अकेली ही फिरती हो !

रमणी—कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। गुर्ज्जर स्वाधीन देश है। यहाँ हिंदू बसते हैं। पर-स्त्री और पर-कन्या को सब भगिनी-भाव से देखते हैं। साहब, इस देश में रमणी को विपद् की आशंका नहीं रहती।

शाह जमाल—समझ गया ; पर हम तुम्हारा पूरा परिचय चाहते हैं।

रमणी—इससे अधिक मैं नहीं कह सकती।

शाह जमाल ने मन-ही-मन उस रमणी के साहस की बहुत प्रशंसा की ; फिर कठोर स्वर से बोले—रमणी, परिचय न देने से बिपद् में पड़ोगी।

रमणी—विपद् में कौन डालेगा ?

शाह—हम और हमारे साथी।

रमणी—आपके और कितने साथी हैं ?

शाह—चार।

रमणी—क्या वे भी आपके समान वीर हैं, क्या स्वाधीनता की लीला-भूमि अफ़ग़ानिस्थान के सब वीर, रमणी पर अत्याचार करते हैं ?

रुस्तम यह सह न सका। उसने तलवार खींच ली। रमणी ने शीघ्रता से रुस्तम का हाथ पकड़कर ऐसा झटका दिया कि, तलवार हाथ से छिटककर दूर जा गिरी।

रुस्तम विस्मय-सहित बोल उठा—मा, तुम कौन हो ?

रमणी ने हँसकर कहा—मैं भगवान् सोमनाथ की दासी हूँ।

रुस्तम—क्या गुर्जर की सब रमणियाँ ऐसी ही शक्ती-शालिनी हैं ?

रमणी—जिस देश में स्वय शक्ति के अवतार महा-काल भैरव सोमनाथ बिराजते हैं, वहाँ की अधिकांश रमणियाँ ऐसी ही हैं।

इसी समय शाहज़ादे ने कहा—रुस्तम, इस रमणी को धन्य-वाद दो। इसी के कारण आज यह पवित्र भूमि हम लोगों के रुधिर-प्रवाह से कलंकित होने से बची। चलो, हम लोग अब लौटें। यह यात्रा निष्फल हुई।

रमणी ने पूछा—कहाँ जाइयेगा ?

शाह जमाल—अधिकतर सिन्धुदेश।

रमणी—अभी आपको नाव कैसे मिलेगी ? फिर एक बात और है कि आप हमारे अतिथि हैं, बिना आतिथ्य स्वीकार किये आप जा कैसे सकते हैं ?

शाह—तब हम क्या करें ?

रमणी—आपको हमारे साथ चलना पड़ेगा। आप हमारे अतिथि हैं।

शाह—तुम्हारा विश्वास क्या ?

रमणी—विश्वास ! हमारा बचन।

शाह—यदि हम न जायें, तो क्या करोगी ?

रमणी—आप को जाना ही पड़ेगा।

यह कह रमणी ने एक शंख निकाल कर फूँका। शंखनाद के

होते ही क्षण भर में वहाँ १०० शस्त्रधारी सैनिक आ पहुँचे। उनमें से एक ने आगे बढ़कर कहा—माँ, क्या आज्ञा है।

रमणी ने हँसकर कहा—कुछ नहीं। यों ही एक बार तुम्हें देखने की इच्छा हुई। अब तुम लोग जाओ।

क्षण-भर में वे लोग जहाँ से आये थे वहीं चले गये।

शाह जमाल ने यह देखकर कहा—"अच्छा, हम चलते हैं; पर एक बात की प्रतिज्ञा करो।

रमणी—किस बात की?

शाह—दगा तो नहीं करोगी?

रमणी—ना, भगवान् सोमनाथ हमें ऐसी मति न दें।

शाह—और एक बात। हमारा परिचय किसी को न देना।

रमणी—स्वीकार है।

शाह—और कल सूर्योदय के पहले हमें बिदा दे देना और एक नाव भी ठीक करना।

रमणी—यह भी स्वीकार है।

शाह जमाल ने रुस्तम की ओर देखकर कहा—रुस्तम, उन लोगों को भी बुला लो।

रुस्तम ने एक सीटी बजाई, जिसे सुनते ही वे चारों सैनिक भी आ गये।

रमणी आगे-आगे चलने लगी और वे लोग विस्मय-विमुग्ध होकर पीछे-पीछे जाने लगे।

(३)

कुछ दूर चलने के बाद एक वृहत अट्टालिका मिली। वहाँ १० शस्त्रधारी सैनिक इधर-उधर घूम रहे थे। रमणी ने शाहज़ादे की ओर देख कर कहा—महाशय! आप यहाँ निश्शंक आइये। राजपूत अपने अतिथि का अनिष्ट कभी नहीं करते। घोर शत्रु भी यदि अतिथि होकर आवे, तो वह हम लोगों का पूजनीय है।

इसके बाद उसने एक सैनिक की ओर देखकर कहा—भैरव, ये लोग हमारे अतिथि हैं। इनको विश्राम-स्थान बतलाओ।—भैरव ने आकर कहा—चलिये महाशय।

रमणी एक ओर चली गई और शाह जमाल तथा उसके साथियों ने उस बृहत् अट्टालिका में प्रवेश किया। भैरव इनको एक सजे हुए कमरे में ले गया। वहाँ इनसे कहा—यह कमरा आपके लिये है और यह दूसरा कमरा आपके भृत्यों के लिए।

यह कहकर भैरव चला गया। शाह जमाल की आज्ञा पाकर वे चारों सैनिक भी दूसरे कमरे में चले गये। उस कमरे में केवल शाह जमाल और रुस्तम रह गये।

शाह जमाल ने कहा—रुस्तम!

रुस्तम—जनाब।

शाह—यह क्या व्यापार है? कुछ समझ में आता है?

रुस्तम—जनाब! कुछ नहीं।

शाह—इनका उद्देश्य क्या है? अतिथि बनाना या इसी मिस से बन्दी करना?

रुस्तम—बन्दी होने में अब क्या कसर है ?

शाह—और यह रमणी कौन है ?

रुस्तम—हुजूर, मैं कुछ नहीं कह सकता।

और कुछ बात नहीं हुई। इसी समय भैरव चार भृत्यों के साथ आ पहुँचा।

भैरव बोला—हमारी माताजी का अनुरोध है कि अब अब आप लोग भोजन करें। यहाँ जो कुछ मिल सकता है, वही आपके लिए लाया गया है। फल, कन्द-मूल और दुग्ध को छोड़ और कुछ नहीं है। कल प्रातःकाल माताजी से साक्षात् होगा।—भैरव चला गया और ये लोग भोजन कर सोने की चेष्टा करने लगे। शाहज़ादे को छोड़, घड़ी-भर में सब घोर निन्द्रा में अचेत हो गये।

शाहज़ादे को नींद नहीं आई। वह जागता ही रहा। आज तक शाहज़ादे के हृदय में किसी रमणी का चित्र अंकित नहीं हुआ था ; पर उस गुर्ज्जर-रमणी के अपूर्व-सौंदर्य्य, अगम्य साहस और आतिथ्य-सत्कार ने उसके हृदय पर एक बड़ा आघात कर दिया था। उस आघात के कारण उसका हृदय जल रहा था। शाहज़ादे को ज़रा भी शान्ति नहीं मिलती थी।

रात व्यतीत हो गयी। आकाश में प्रातःकाल की लालिमा फैलने लगी। रुस्तम भी सोकर उठा और चारों सैनिक भी। भैरव फिर आया। शाहज़ादे को प्रणाम कर बोला—रानीजी जानना चाहती हैं, कि आप लोगों को कल कुछ कष्ट तो नहीं हुआ ?

शाह—रानीजी कौन ? जिन्होंने हमें आश्रय दिया है ?

भैरव—जी हाँ, जिनके आप अतिथि हैं।

शहा—वे ही गुज्जर की राजकन्या कमलावती हैं, जो कल हमारे साथ आई थीं ?

भैरव—जी हाँ।

शाह—रानीजी को हमारी ओर से धन्यवाद देकर कहना, हम लोग उनके बड़े कृतज्ञ हैं। अब वे हमें बिदा करें।

भैरव—आप लोग प्रातःकाल के कार्यों से यदि निवृत्ति हो चुके हों, तो अभी प्रस्थान कीजिये। नाव तैयार है।

शाह—गुज्जर के अतिथि आपकी रानी के निकट और एक बात के प्रार्थी हैं।

भैरव—कहिये।

शाह—यही कि वे स्वयं आकर हमें बिदा देवें।

भैरव—असम्भव, ऐसा कभी नहीं हो सकता।

शाह—क्यों ? कल तो वे हमारे साथ आई थीं !

भैरव—पर वह आना कर्तव्य के अनुरोध से था, आज कदापि नहीं आ सकतीं।

शाह—हम मुसलमान हैं। अपने आमंत्रित अतिथि को पूरे सम्मान-सहित बिदा करते हैं। देखते हैं कि गुज्जर की रानी शिष्टाचार की आदर्श नहीं हैं। वे अपने श्रेष्ठ अतिथि का अपमान करने में संकोच नहीं करतीं।

भैरव का मुख लाल हो गया। उसने तलवार पर हाथ रक्खा,

इसी समय पीछे से किसी ने कहा—सावधान! भैरव! सावधान! अतिथि का अपमान मत करना।

भैरव ने चौंककर पीछे देखा कि स्वयं रानी कमलावती खड़ी हैं।

शाह जमाल ने देखा कि, इस बार कमलावती का मुख खुला नहीं है, वह अवगुण्ठन से आवृत है।

कमलावती ने शाह जमाल की ओर देखकर कहा—जनाब! आप गुर्ज्जर पर कलंक आरोपण करने के लिये उद्यत हो गये थे; इसीलिये मुझे आना पड़ा। यह ध्यान रखिए कि गुर्ज्जर की रानी अपने अतिथि के साथ अशिष्ट व्यवहार नहीं करती।

कमलावती यह कहकर चुप हो गई। शाह जमाल ने सिर नीचा कर लिया। कमलावती ने फिर गम्भीर स्वर से कहा—जनाब, मैं अब अधिक समय तक नहीं ठहर सकती; क्योंकि पूजा का समय जा रहा है। यदि हम से कुछ भूल हुई हो, तो उसे आ क्षमा करें; भूल सभी से हो जाती है। हाँ यह भी कहे देती हूँ कि आप फिर कभी छद्म-वेष से गुर्ज्जर-प्रदेश में न आइयेगा, नहीं तो आप विपद् में पड़ेंगे।

कमलावती शीघ्रता से चली गई। जैसे विद्युत् क्षण-भर में आकाश-मण्डल में प्रकट होकर फिर लुप्त हो जाती है, वैसे ही वह शीघ्रता से आई और शीघ्रता से ही चली गई। शाह जमाल देखता ही रह गया।

सेनापति रुस्तम ने कहा—शाहज़ादे! अब आप वृथा विलम्ब क्यों करते हैं?

शाहज़ादे ने एक दीर्घ निःश्वास परित्याग कर कहा—रुस्तम, चलो, अब यहाँ ठहरने का काम नहीं है।

सब लोग आगे बढ़े और भैरव भी उनके पीछे चला।

(४)

"मा, क्या यह काम अच्छा हुआ?"

"इसमें बुरा क्या हुआ भैरव?"

"मुसलमान हमारे शत्रु हैं। और फिर, जो यहाँ आये थे, वे लोग हमारे घोर शत्रु हैं।"

"कुछ भी हो; पर थे तो हमारे अतिथि!"

"जान पड़ता है, गुर्ज्जर पर शीघ्र ही विपद् आवेगी।"

"यह कैसे जाना?"

"उन लोगों की बातचीत से मालूम हुआ।"

"कुछ चिन्ता की बात नहीं है। भैरव, तुम भय मत करो, गुर्ज्जरवासी निर्बल नहीं है। कुमारसिंह की शक्ति अभी क्षीण नहीं हुई। गुर्ज्जर का अभी कुछ भी अनिष्ट न होगा।"

पीछे से किसी ने कहा—"सत्य है कमला! गुर्ज्जरवासी निर्बल नहीं हैं।"

कमलावती ने मुँह फेरकर देखा, तो कुमार पीछे खड़े हँस रहे हैं। भैरव कुमार को देखकर अन्यत्र चला गया। कमला ने चिन्तित स्वर से कहा—कुमार! हम लोगों पर विपद् आनेवाली है।

कुमार बोले—विपद्! कमला, जब तक सुलतान महमूद

जीवित है, तब तक विपद् का अभाव न रहेगा ; पर यह ध्यान रक्खो, हम भी विपद् को ही खोजते रहते हैं।

कमला ने कठोर दृष्टि-पात कर पूछा—कैसे ?

कुमार—क्या यह नहीं जानती हो ? स्मरण है, सोमनाथ के मन्दिर में आपने क्या प्रतिज्ञा की थी और क्या स्वीकार किया था ? यदि विपद् न आयेगी, तो कुमार सिंह का बाहु-बल कैसे प्रगट होगा ?

कमला गम्भीर होकर बोली—कुमार, यह समय सुख-कल्पना करने का नहीं है। गुर्ज्जर का सारा भार तुम पर है। पिता वृद्ध हैं। वे तुम पर विश्वास करते हैं।

कुमार—यह सब जानता हूँ। जीवन रहते मैं कर्त्तव्य से पराङ्मुख न हूँगा। तुम इसकी चिन्ता मत करो। पर मुझे एक बात की चिन्ता है।

कमला—कौन बात ? मुझसे संकोच न करना।

कुमार—कमला, युद्ध में सब अनिश्चित रहता है। कौन जानता है कि क्या होगा ? यदि कहीं मैं युद्ध में मारा जाऊँ ?

कमला—कुमार, तो मैं स्वर्ग में जाकर तुम्हारे चरणों को चूमूँगी।

कुमार—कमला, मैं यही सुनना चाहता था। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि तुम्हारे लिये ही नीच 'महमूद' गुर्ज्जर पर आक्रमण करेगा।

कमला—यह आपने कैसे जाना ?

कुमार—सुलतान का भ्रातृ-पुत्र शाह जमाल तुम्हें देख कर उन्मत्त-सा हो गया है वही सेनापति होकर आवेगा, यह भैरव ने हमसे कहा है। वह उन लोगों के साथ बड़ी दूर तक गया था। उसने यह बात उन लोगों के मुख से सुनी है।

यह सुनकर कमलावती के हृदय में भय होने लगा। एक अनिष्ट की आशंका होने लगी। क्या उसके लिये उसकी जननी जन्मभूमि का सर्वनाश होगा ? क्या उसी के लिये शाह जमाल गुर्ज्जर पर आक्रमण करेगा ?

कुछ क्षण बाद कमलावती ने कहा—कुमार, तुम इसका भय मत करो। मैं राजपूत की कन्या हूँ। मैं अपना धर्म भली-भाँति जानती हूँ समय आने पर हम लोगों के लिये चिताग्नि चन्दन-प्रलेप के समान शीतल हो जाती है।

कुमार के नेत्रों में जल भर आया। वे वहाँ से चले गये। कमलावती ने आकाश की ओर देख कर करुण-स्वर से कहा—भगवन्, सोमनाथ! सहस्रो कमलावती चाहे काल के भीषण स्रोत में बह जाँय ; पर देखना प्रभो, कुमार गुर्ज्जर की रक्षा भली भाँति करें।

(५)

सिन्धुदेश में समुद्र-तीर से दस कोस पर सुलतान महमूद ने एक नगर बसाया था। वह अब भी महमूदाबाद के नाम से प्रसिद्ध है। भारत में राज्य-स्थापित करना, यह महमूद का आन्तरिक उद्देश्य न था और इसके लिये उसने प्रयत्न भी नहीं किया।

उसकी इच्छा थी—असंख्य रत्न-संग्रह करना। इसी इच्छा को पूरी करने के लिये महमूद ने भारत पर अनेक बार आक्रमण किया और दैवेच्छा से वह सदा सफल-मनोरथ ही होता रहा। उसकी राजधानी, ग़ज़नी, भारत-ऐश्वर्य से अलकापुरी के तुल्य हो गई ; परन्तु महमूद सन्तुष्ट न हुआ।

सोमनाथ के ऐश्वर्य की कथा सुनकर उसने गुर्ज्जर पर भी धावा करने का निश्चय किया ; परन्तु उसे सुयोग न मिलता था। उसने अनेक बार चेष्टा की ; परन्तु कुछ कर न सका। इस बार उसने शाहजादा शाह जमाल और सेनापति रुस्तम को भेजा। हिन्दू वणिक् के वेष में उन लोगों ने गुर्ज्जर-देश में प्रवेश भी किया। इसके बाद जो कुछ हुआ वह पाठकगण जानते ही हैं।

राज-कन्या कमलावती के आदेश से भैरव उन लोगों को एक निरापद् स्थान तक पहुँचाकर गुर्ज्जर को लौट आया। मार्ग में शाह जमाल और रुस्तक पिश्तो-भाषा में वार्तालाप करते थे। शाह जमाल ने कई बार कमलावती का नामोल्लेख किया। भैरव पिश्तो नहीं जानता था, इससे कुछ समझ न सका ; पर गुर्ज्जर की माता प्रत्यक्ष देवी कमलावती का पवित्र नाम उन म्लेच्छों के मुख से सुनकर भैरव का सारा शरीर जलने लगा। एक बार उसके मन में आया, कि नाव को समुद्र में डुबा दे, जिससे गुर्ज्जर के दो प्रबल शत्रुओं का नाश हो जाय ; पर उसी समय कमलावती का अन्तिम वचन उसके ध्यान में आ गया—देखना भैरव, इन लोगों का कुछ भी अनिष्ट न हो। शत्रु होने पर भी ये लोग हमारे

अतिथि हैं।—भैरव ने तुरन्त ही अपने हृदय की उत्तेजना को दबा लिया ; पर इतना उसने समझ लिया, कि गुर्ज्जर पर यवन लोग शीघ्र ही आक्रमण करेंगे; परन्तु इस बार सोमनाथ के विश्व विश्रुत ऐश्वर्य के लिये नहीं, कमलावती के लिये। शाहज़ादा के हृदय में एक भीषण अग्नि धधक रही थी, उसी की शान्ति के लिये वह किसी-न-किसी दिन गुर्ज्जर पर विपद् लावेगा।

(६)

महमूदाबाद आकर शाह जमाल ने सुना, कि सुलतान महमूद आखेट के लिये निकले हैं। शाहज़ादा वहीं सुलतान की राह देखने लगा। रुस्तम भी उसके साथ ठहरा रहा।

यहाँ आकर रुस्तम ने देखा, कि शाहज़ादा अब हमको प्रसन्न करने की चेष्टा में सदा लगा रहता है। चालाक रुस्तम समझ गया कि शाह जमाल क्यों खुशामद करता है। बात यह थी, कि रुस्तम सुलतान का प्रधान सेनापति था। फिर उस पर सुलतान का पूर्ण विश्वास था। शाहज़ादे ने सोचा, कि रुस्तम से विवाद करना अच्छा न हुआ। क्षण-भर में उत्तेजना के वश उसने जो कुछ कह डाला था, उसके लिये वह पश्चाताप करने लगा। फिर उन्हें भय था, कि रुस्तम कहीं यह सब बात सुलतान से जाकर न कह दे। यही सब सोच-विचार कर शाह जमाल रुस्तम की खुशामद में लगा रहता था। रुस्तम शाह जमाल पर आन्तरिक स्नेह रखता था। वह कभी नहीं चाहता था, कि शाह का कुछ अनिष्ट हो।

सन्ध्या के समय एक निर्जन कमरे में बैठे शाह जमाल और रुस्तम वार्तालाप कर रहे हैं। शाह जमाल ने कहा—रुस्तम साहब, आपने हमारी बे-अदबी तो माफ़ कर दी ?

रुस्तम—जनाब का लड़कपन अभी नहीं गया है। इसी से उस दिन ऐसी बात हो गई ; पर हमने मन में उसे कभी नहीं रक्खा। हुजूर, यह ध्यान रक्खें, कि ऐसी छोटी-छोटी बातों पर रुस्तम कभी ध्यान नहीं देता।

शाह—हमसे एक बात की प्रतिज्ञा करो।

रुस्तम—कहिए।

शाह—उस दिन की बात तो तुम सुलतान से कभी न कहोगे ?

रुस्तम—आज तक मैंने मिथ्या-भाषण नहीं किया है। आपके लिये मैं वह भी करूँगा। आप विश्वास करें, सुलतान को यह बात कभी न मालूम होगी।

शाह—रुस्तम हमने भी दृढ़ नियम किया है, कि हम सुलतान की आज्ञा कभी न भङ्ग करेंगे।

रुस्तम—तो क्या आप गुर्ज्जर पर, उनके कहने से, आक्रमण करेंगे ?

शाह—ज़रूर।

रुस्तम—यह क्या ? शाहज़ादे, यह सब कमलावती के लिये तो नहीं है ?

शाह—वही बात है रुस्तम !

रुस्तम—पर आप यह जान लें, कि गुर्ज्जर को ध्वंस किये बिना

आप कमलावती को नहीं पा सकते। जब तक गुर्ज्जर में एक भी राजपूत जीता रहेगा, तब तक आप निरापद् नहीं हो सकते।

शाह जमाल—हाँ, रुस्तम, अबकी बार हम गुर्ज्जर को बिल्कुल ध्वंस कर डालेंगे, उसे एक बार ही श्मशान बना देंगे। जिस प्रदेश की प्राकृतिक शोभा ने कभी हमें मुग्ध कर लिया था, उसी प्रदेश को—तुम देख लेना—हम प्रेत-भूमि बनाकर छोड़ेंगे।

रुस्तम—कमलावती क्या इतनी सुन्दरी है ?

शाह जमाल—रुस्तम ! तुम उस रूप का मूल्य नहीं जानते।

रुस्तम कुछ कहना चाहता था कि सुलतान महमूद स्वयं आ पहुँचा। उन्हें देखकर शाह के चेहरे का रंग उड़ गया। रुस्तम का भी हृदय काँप उठा। दोनों आसन त्यागकर ससम्भ्रम उठ बैठे।

सुल्तान ने, गंभीर स्वर में, जमाल की ओर देखकर कहा—जमाल, गुर्ज्जर का क्या संवाद है ?

शाह जमाल—जहाँपनाह, संवाद शुभ है।

सुलतान—गुर्ज्जर-पति का सेना-बल कितना है ?

शाह जमाल—हम लोगों से बहुत कम !

सुलतान—गुर्ज्जर-विजय करने के लिए तुम्हें कितनी सेना चाहिए ?

शाह जमाल—दस हज़ार।

सुलतान—दस हज़ार ! तुमको दस और रुस्तम को पाँच हज़ार देने से हमारा बाहु-बल शिथिल हो जायगा।

शाह जमाल—गुर्ज्जर की सेना खूब सुरक्षित है।

सुलतान—जानता हूँ ; पर मुझे आश्चर्य है कि ग़ज़नी का भविष्य-अधिकारी अफ़ग़ान-सैनिक का बल नहीं जानता !

शाह जमाल के हृदय में यह बात तीर-सी लगी। उसने तेजी से कहा—जहाँपनाह, हम केवल पाँच हजार सेना लेकर युद्ध में जाने के लिए प्रस्तुत हैं। आपके आशीर्वाद से मैं इतनी ही सेना से गुर्ज्जर-विजय करूँगा। यदि नहीं, तो युद्ध में ही प्राण-त्याग करूँगा ; लौटूँगा नहीं।—सुलतान शाह जमाल को पुत्र के समान चाहता था। यह बात सुनकर उसके नेत्रों में जल भर आया। उसने कहा—जमाल, हम तुम्हें दस हजार सेना देंगे ; पर तीन हज़ार रुस्तम के अधीन रहकर तुम्हारी पार्श्व-रक्षा करेगी। कल ही युद्ध-यात्रा करो। हाँ, एक बात और कहनी है, गुर्ज्जर-पति को बन्दी कर हमारे पास भेजना। यदि जीता हाथ न आवे, तो सिर काटकर भेजना।

शाह—जहाँपनाह, मैं वैसा ही करूँगा।

सुलतान—हाँ और एक बात।

शाह—आज्ञा।

सुलतान—हम सुनते हैं, गुर्ज्जर-राज कन्या कमलावती अत्यन्त सुन्दरी है। हम उसे बेगम बनाना चाहते हैं ; इसलिये तुम उसे सम्मान-सहित हमारे पास भेजना।

शाह जमाल के मस्तक पर सहसा वज्रपात हो गया। सारा संसार अन्धकार-मय बोध होने लगा ; पर उपाय क्या था ?

कहना पड़ा—बन्दा आपकी आज्ञा का पालन करेगा, आप निश्चिन्त रहें।

सुलतान और कुछ न बोला, वहाँ से शीघ्र चला गया।

शाह जमाल के हृदयाकाश में आशा का जो उज्ज्वल आलोक प्रकट हुआ था, वह अन्धकार-मय निराशा में परिणत हो गया। वह सुख का स्वप्न चला गया।

गुर्ज्जर-विजय करने का पहले जैसा उत्साह था, वैसा अब न रहा। शाह विषण्ण मुख से बोला—रुस्तम युद्ध के लिए प्रस्तुत हो। खुदा को मंजूर है वही होगा।

(७)

भैरव हाँफता-हाँफता कमलावती के कमरे के पास आकर विकृत स्वर से बोला—मा, मा!

कमलावती ने बाहर आकर कहा—कौन है? भैरव! क्या बात है?

भैरव ने कहा—मा, सर्वनाश उपस्थित है!

कमलावती ने डरकर पूछा—क्यों, क्या हुआ?

भैरव—मुसलमानों की सेना गुर्ज्जर के समीप आ गई है।

कमलावती—कितनी सेना?

भैरव—प्रायः बीस हज़ार।

कमला—बी-स-ह-जा-र—!!!

भैरव—हाँ, मा, इससे अधिक होगी—कम नहीं।

कमला—गुर्ज्जर की रक्षा कैसे होगी ? भैरव, हमारी सेना दस हज़ार से अधिक नहीं है।

भैरव—हाँ, मा, और—और तुम्हारी कैसे रक्षा होगी, मा !

कमलावती का मुख लाल हो गया, फिर तुरन्त ही वह लालिमा चली गई। कमला गम्भीर हो कर बोली—भैरव, हमारी कौन चिन्ता ? क्या तू भूल गया कि मैं राजपूत-कन्या हूँ। हम लोगों को मृत्यु से भय नहीं है। अपनी जन्म-भूमि की चिन्ता कर। पिता कहाँ हैं ?

भैरव—नगर के बाहर व्यूह-रचना कर रहे हैं। उनका कहना है कि वे सोमनाथ के चरण-तल में रहकर युद्ध करेंगे। वे ही हमारी रक्षा करेंगे।—कमला कातर स्वर से बोल उठी—भगवान् सोम-नाथ, क्या होगा ? क्या करोगे ? प्रभो !

सहसा कुमारसिंह वहाँ युद्ध-वेष में आ पहुँचा। कमलावती कुमार का हाथ पकड़कर बोली—कुमार अब क्या होगा ?—कुमार उत्साह-पूर्ण स्वर से बोला—किसी का भय नहीं है। कमला, स्वयं स्वयंभू हमारे पृष्ठ पोषक हैं। जहाँ सोमनाथ महाकाल के रूप में विराजमान हैं और जहाँ साक्षात् शक्तिमयी देवी तुम हो, वहाँ कमला, हम लोगों को भय किस बात का है ? तुम हमें प्रसन्न मुख से बिदा दो। कमला सजल नेत्रों से बोली—कुमार, आज न-जाने क्यों मेरा हृदय काँपता है ? न-जाने क्यों अनिष्ट की आशंका होती है ? हाय ! इस सर्वनाश और अनर्थ की जड़ मैं ही हूँ। हाय ! मैंने क्यों शैतान जमाल को आश्रय दिया ?

कुमार—कमला, यह विषाद करने का समय नहीं है। तुम राजपूत-कन्या हो। धैर्य धरो। मैं जाता हूँ; पर एक बात और कहनी है। मुसलमानों का कोई विश्वास नहीं। युद्ध में जय-पराजय दोनों मिलती हैं। कौन जानता है, कहीं हमारी पराजय हो और उन लोगों की जय। यदि कहीं ऐसा हो, तब तुम्हें आत्म-रक्षा के लिये समय न मिलेगा; इसलिए यह मैं तुम्हें दिये जाता हूँ। विपद् पड़ने पर अपनी धर्म-रक्षा के लिए तुम इस विष का सदुपयोग करना। मेरी मृत्यु हो जाने और तुम्हारे पिता के स्वर्ग-गत होने पर, कमला! तुम यह जान रक्खो, देवता भी तुम्हारी रक्षा न कर सकेंगे। उस समय यही विष तुम्हारी और तुम्हारे धर्म की रक्षा करेगा। जब तुम सुन लेना कि कुमार अब संसार में नहीं रहा, तब तुम विष-पान कर अपनी पवित्र आत्मा की रक्षा करना।

यह कहकर कुमार ने कमलावती के हाथ में एक काग़ज़ की पुड़िया दे दी और फिर सजल नेत्रों से युद्ध-भूमी की ओर प्रस्थान किया। भैरव दूसरे कमरे में था। कुमार को जाते देखकर वह भी उनके पीछे हो गया।

(८)

सन्ध्या हुई। गुज्जर-सेना पठानों से पराजित हुई। सूर्यदेव गुज्जर के पराजय का कलङ्क न सह क्रोध में लोहित वर्ण धारणकर आकाश-मण्डल में अदृश्य होगये।

उस दिन भगवान सोमनाथ के मन्दिर में आरती नहीं हुई। उस दिन देव-मन्दिर के घण्ट-निनाद और ब्राह्मणों के स्तोत्र-पाठ से

आकाश नहीं गूँजा। दिगन्त मुखरित नहीं हुआ। उस दिन समुद्र तरङ्ग घोर गर्जना नहीं करती थीं। उस दिन गुज्जर की सौन्दर्य शालिनी भूमि विभीषिका-मय श्मशान के समान हो गई थी।

भगवान् सोमनाथ श्मशान ही में रहते हैं। वही उनका निवास स्थान है; पर इस श्मशान में चिता-भस्म नहीं है। उनके स्थान में उनके एकान्त भक्त गुज्जरवासियों का हृदय-शोणित बह रहा है।

क्रमशः रजनी गम्भीर होने लगी। अन्धकार बढ़ने लगा। कमलावती अपने पिता की मृत-देह के लिए चिता रचकर भैरव के साथ फिर युद्ध-भूमि में आई। उस महाश्मशान में वह प्रेतनी के समान घूम रही है। पीछे-पीछे मशाल हाथ में लिए भैरव था। भैरव मृत-देहों के मुख के पास मशाल ले जाता था। फिर निराशा पूर्ण स्वर से कहता था—नहीं, नहीं ये कुमार नहीं हैं। वायु भी हताश होकर कहता था—नहीं ये कुमार नहीं हैं। उस श्मशान-क्षेत्र में स्थित वृक्षों के पत्ते भी कहने लगते—नहीं, ये कुमारसिंह नहीं है। चन्द्र-हीन अकाश-मंडल के तारे भी कह उठते थे—कुमार-सिंह कहाँ हैं? उन्हें कहाँ खोजतो हो? वे तो हमारे राज्य मे हैं कमलावती निराश होकर फिर दूसरा मृत देह की ओर जाती थी।

इसी समय उस अन्धकार-मय श्मशान-भूमि में दो मनुष्य की आकृत दीख पड़ी। मूर्त्तिद्वय, भैरव और कमलावती के समीप आये। कमलावती ने उन दोनों को पहचान लिया और भैरव ने भी। उनमें से एक शाह जमाल था और दूसरा रुस्तम।

कमलावती ने तिरस्कार-पूर्ण स्वर से कहा—शैतान, नराधम, तूने क्यों हमारा सर्वनाश किया ? क्या हमारे आतिथ्य-सत्कार का यही पुरस्कार है ?—शाह जमाल ने उस तिरस्कार का उत्तर न दिया। वह इस सयय कमलावती की ओर स्थिर दृष्टि से देखता था। जिसके लिए आज उसने गुर्ज्जर को प्रेत-भूमि कर दी है, उसे सामने खड़ी देखकर शाह जमाल उन्मत्त हो उठा। फिर विकृत स्वर से बोला—कमला ! तुम यहाँ क्यों घूम रही हो ? यह हम अनुमान से कह सकते हैं कि कदाचित तुम कुमारसिंह को मृत देह लेना चाहती हो ; पर कुमार मरे नहीं हैं, आहत हैं और हमारे शिविर में बन्दी हैं। कमला हम कृतघ्न नहीं हैं। यदि तुम चाहो, तो हम अभी उन्हें स्वाधीन कर दें ; पर इसके लिये मैं तुम्हें लेना चाहता हूँ।—इसके बाद शाह जमाल उत्तेजित स्वर से कहने लगा—कमला, सुलतान तुम्हें बेगम बनाना चाहते हैं और मैं तुम्हें अपनी हृदयेश्वरी, अपनी प्राणेश्वरी करना चाहता हूँ। मैं ग़ज़नी का भावी सुलतान हूँ ; पर कमला तुम्हारे लिए मैं वह राज्य छोड़े देता हूँ। मैं तुम्हें चाहता हूँ। मैंने निश्चय कर लिया है कि अब मैं अफ़ग़ानिस्तान न लौटूँगा। इसी देश में एक कुटी बनाकर मैं तुम्हारे साथ सुख से रहूँगा। मुझे अब और कुछ नहीं चाहिए। कमला, प्राणेश्वरी कमला ! एक बार कहो, तुम मेरी हो।—इतना कहकर शाह जमाल कमलावती को आलिङ्गन करने के लिए दौड़ा। एकाएक पीछे से एक बन्दूक की आवाज़ आई। शाह जमाल आहत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। शीघ्र ही वह आघात-

कारी सब के सम्मुख आया। उसे देख रुस्तम के आश्चर्य की सीमा न रही ; क्योंकि वह स्वयं सुलतान महमूद था।

भू-पतित शाहज़ादे की ओर देखकर सुलतान बोला—शैतान, विश्वास-घातक! नफर, क्या इसीलिए मैंने तुझ पर इतना विश्वास किया था? मैंने तुझे क्या नहीं दिया? और फिर तूने मेरे ही साथ दग़ा की। महमूदाबाद में मैंने छिपकर तेरी बातें सुन ली थीं। एक सैनिक के वेष में मैं तेरे पीछे-पीछे यहाँ तक आया और यहाँ आज मैंने तुझे इस दग़ाबाज़ी के लिए पूरा पुरस्कार दे दिया।

यह कहकर सुलतान पीछे लौटा ; देखा, वहाँ कमलावती और भैरव कोई नहीं हैं, रुस्तम खड़ा है। सुलतान ने पूछा—रुस्तम, ये दोनों कहाँ चले गये?

रुस्तम ने कहा—जहाँ पनाह, मैं कह नहीं सकता, कहाँ गये। मैंने ख़याल नहीं किया।

सुलतान—रुस्तम, तुम इस लाश को उठाकर मेरे पीछे-पीछे आओ।—रुस्तम शाह जमाल की लाश उठाकर सुलतान के पीछे-पीछे चला। शिविर में जाने से मालूम हुआ, कि कुमारसिंह भी न जाने कैसे छूटकर निकल गये! सुलतान ने कहा—रुस्तम, इस बार हम दुश्मनों को शिकस्त न कर सके। चलो फिर कभी देखा जायगा।

सुलतान महमूद के लौट जाने पर कुमारसिंह ने कमलावती का पाणिग्रहण किया। कमलावती के पिता की भी यही अन्तिम इच्छा थी। कुमारसिंह उनके बाद गुज्जर के अधीश्वर हुए।

६—पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक

आप कानपूर के निवासी हैं। आपकी कहानियाँ प्रायः हिन्दी-मासिक-पत्रिकाओं में निकलती रहती हैं। 'गल्प-मन्दिर' और 'चित्रशाला'—ये दो संग्रह आपकी कहानियों के प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ दिनों तक आपने 'मनोरंजन' मासिक-पत्र का बड़ी योग्यता से सम्पादन किया। आपकी कहानियों में बहुधा निम्न-श्रेणी के चरित्रों का चित्रण होता है। आपकी कला की विशेषता संभापण है। संभापणों-द्वारा ही आपने कई ड्रामे लिखे हैं। आपका एक उ न्यास धारा-वाहिक रूप में 'सुधा' में निकला था, जो अब पुस्तक रूप में भी छप गया।

ताई

(१)

ऊजी, हमें लेलगाड़ी (रेलगाड़ी) ला दोगे?"—कहता हुआ एक पंचवर्षीय बालक बाबू रामजीदास की ओर दौड़ा।

बाबू साहब ने दोनों बाहें फैलाकर कहा—हाँ बेटा, ला देंगे।

उनके इतना कहते-कहते बालक उनके निकट आ गया। उन्होंने बालक को गोद में उठा लिया और उसका मुख चूमकर बोले—क्या करेगा रेलगाड़ी?

बालक बोला—उसमें बैठ के बली दूल जायँगे। हम भी जायँगे, चुन्नी को भी ले जायँगे। बाबूजी को नहीं ले जायँगे। हमें लेलगाली नहीं ला देते। ताऊजी, तुम ला दोगे, तो तुम्हें ले जायँगे।

बाबू—और किसको ले जायगा?

बालक दम-भर सोचकर बोला—बछ, और किछी को नहीं ले जायँगे।

पास ही बाबू रामजीदास की अर्द्धांगिनी बैठी थीं। बाबू साहब ने उनकी ओर इशारा करके कहा—और अपनी ताई को नहीं ले जायगा ?

बालक कुछ देर तक अपनी ताई की ओर देखता रहा। ताईजी उस समय कुछ चिढ़ी हुई-सी बैठी थीं। बालक को उनके मुख का वह भाव अच्छा न लगा। अतएव वह बोला—ताई को नहीं ले जायँगे।

ताईजी सुपारी काटती हुई बोलीं—अपने ताऊजी ही को ले जा! मेरे ऊपर दया रख!

ताई ने यह बात बड़ी रुखाई के साथ कही। बालक ताई के शुष्क व्यवहार को तुरत ताड़ गया। बाबू साहब ने फिर पूछा—

"ताई को क्यों नहीं ले जायगा ?"

बालक—ताई हमें प्याल (प्यार) नहीं कलतीं।

बाबू—जो प्यार करें, तो ले जायगा ?

बालक को इसमें कुछ सन्देह था। ताई का भाव देखकर उसे यह आशा नहीं थी कि वह प्यार करेंगी। इससे बालक मौन रहा।

बाबू साहब ने फिर पूछा—क्यों रे, बोलता नहीं ? ताई प्यार करें, तो रेल पर बिठाकर ले जायगा ?

बालक ने ताऊजी को प्रसन्न करने के लिए केवल सिर हिलाकर स्वीकार कर लिया; परन्तु मुख से कुछ नहीं कहा।

बाबू साहब उसे अपनी अर्द्धांगिनीजी के पास ले जाकर उनसे बोले—लो, इसे प्यार कर लो, तो यह तुम्हें भी ले जायगा।

परन्तु बच्चे की ताई श्रीमती रामेश्वरी को पति की यह चुहलबाज़ी अच्छी न लगी। वह तुनककर बोलीं—तुम्हीं रेल पर बैठकर जाओ, मुझे नहीं जाना है।

बाबू साहब ने रामेश्वरी की बात पर ध्यान नहीं दिया। बच्चे को उनकी गोद में बिठाने की चेष्टा करते हुए बोले—प्यार नहीं करोगी, तो फिर रेल में नहीं बिठावेगा।—क्यों रे मनोहर?

मनोहर ने ताऊ की बात का उत्तर नहीं दिया। उधर ताई ने मनोहर को अपनी गोद से ढकेल दिया। मनोहर नीचे गिर पड़ा। शरीर में चोट नहीं लगी; पर हृदय में चोट लगी। बालक रो पड़ा।

बाबू साहब ने बालक को गोद में उठा लिया, चुमकार-पुचकार कर चुप किया, और तत्पश्चात् उसे कुछ पैसे तथा रेलगाड़ी ला देने का वचन देकर छोड़ दिया। बालक मनोहर भय-पूर्ण दृष्टि से अपनी ताई की ओर ताकता हुआ उस स्थान से चला गया।

मनोहर के चले जाने पर बाबू रामजीदास रामेश्वरी से बोले—तुम्हारा यह कैसा व्यवहार है? बच्चे को ढकेल दिया! जो उसके चोट लग जाती, तो?

रामेश्वरी मुँह मटकाकर बोलीं—लग जाती, तो अच्छा होता। क्यों मेरी खोपड़ी पर लाद देते थे? आप ही तो उसे मेरे ऊपर डालते थे, और आप ही अब ऐसी बातें करते हैं।

बाबू साहब कुढ़कर बोले—इसी को खोपड़ी पर लादना कहते हैं।

रामेश्वरी—और नहीं किसे कहते है ! तुम्हें तो अपने आगे और किसी का दुःख-सुख सूझता ही नहीं। न-जाने कब किसका जी कैसा होता है। तुम्हें इन बातों की कोई परवा ही नहीं, अपनी चुहल से काम है।

बाबू—बच्चों की प्यारी-प्यारी बातें सुनकर तो चाहे जैसा जी हो, प्रसन्न हो जाता है; मगर तुम्हारा हृदय न-जाने किस धातु का बना हुआ है !

रामेश्वरी—तुम्हारा हो जाता होगा। और होने को होता भी है; मगर वैसा बच्चा भी तो हो ! पराये धन से भी कहीं घर भरता है।

बाबू साहब कुछ देर चुप रहकर बोले—यदि अपना सगा भतीजा भी पराया धन कहा जा सकता है, तो फिर मैं नहीं समझता कि अपना धन किसे कहेंगे।

रामेश्वरी कुछ उत्तेजित होकर बोलीं—बातें बनाना बहुत आता है। तुम्हारा भतीजा है, तुम चाहे जो समझो; पर मुझे ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। हमारे भाग ही फूटे हैं ! नहीं तो ये दिन काहे को देखने पड़ते ! तुम्हारा चलन तो दुनिया से निराला है। आदमी सन्तान के लिये न-जाने क्या-क्या करते हैं—पूजा-पाठ कराते हैं, व्रत रखते हैं; पर तुम्हें इन बातों से क्या काम ? रात-दिन भाई-भतीजों में मगन रहते हो।

बाबू साहब के मुख पर घृणा का भाव झलक आया। उन्होंने कहा—पूजा, पाठ, व्रत, सब ढकोसला है। जो वस्तु भाग में

नहीं, वह पूजा-पाठ से कभी प्राप्त नहीं हो सकती। मेरा तो यह अटल विश्वास है।

श्रीमतीजी कुछ-कुछ रुआसे स्वर में बोलीं—इसी विश्वास ने तो सब चौपट कर रक्खा है! ऐसे ही विश्वास पर सब बैठ जायँ, तो काम कैसे चले। सब बिश्वास पर ही बैठे रहें, आदमी काहे को किसी बात के लिये चेष्टा करे।

बाबू साहब ने सोचा, कि मूर्ख स्त्री के मुँह लगना ठीक नहीं; अतएव वह स्त्री की बात का कुछ उत्तर न देकर वहाँ से टल गये।

(२)

बाबू रामजीदास धनी आदमी हैं। कपड़े की आढ़त का काम करते हैं। लेन-देन भी है। इनके एक छोटा भाई भी है। उसका नाम है कृष्णदास। दोनों भाइयों का परिवार एक ही में है। बाबू रामजीदास की आयु ३५ वर्ष के लगभग है, और छोटे भाई कृष्णदास की २१ के लगभग। रामजीदास निस्सन्तान हैं। कृष्णदास के दो सन्ताने हैं। एक पुत्र—वही पुत्र, जिससे पाठक परिचित हो चुके हैं—और एक कन्या है। कन्या की आयु दो वर्ष के लगभग है।

रामजीदास अपने छोटे भाई और उनकी सन्तान पर बड़ा स्नेह रखते हैं—ऐसा स्नेह कि उसके प्रभाव से उन्हें अपनी सन्तान-हीनता कभी खटकती ही नहीं। छोटे भाई की सन्तान को वे अपनी ही सन्तान समझते हैं। दोनों बच्चे भी रामजीदास से इतने हिले हैं कि उन्हें अपने पिता से भी अधिक समझते हैं।

परन्तु रामजीदास की पत्नी रामेश्वरी को अपनी सन्तान-हीनता का बड़ा दुःख है। वह दिन-रात सन्तान ही के सोच में घुला करती हैं। छोटे भाई की सन्तान पर पति का प्रेम उनकी आँखों में काँटे की तरह खटकता है।

रात को भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर रामजीदास शय्या पर लेटे हुए शीतल और मन्द-वायु का आनन्द ले रहे थे। पास ही दूसरी शैय्या पर रामेश्वरी, हथेली पर सिर रक्खे, किसी चिन्ता में डूबी हुई थीं। दोनों बच्चे अभी बाबू साहब के पास से उठकर अपनी मा के पास गये थे।

बाबू साहब ने अपनी स्त्री की ओर करवट लेकर कहा—आज तुमने मनोहर को इस बुरी तरह से ढकेला था कि मुझे अब तक उसका दुःख है। कभी-कभी तो तुम्हारा व्यवहार बिलकुल ही अमानुषिक हो उठता है।

रामेश्वरी बोली—तुम्हीं ने मुझे ऐसा बना रक्खा है। उस दिन उस पण्डित ने कहा था कि हम-दोनों के जन्म-पत्र में सन्तान का जोग है, और उपाय करने से सन्तान हो भी सकती है। उसने उपाय भी बताए थे; पर तुमने उनमें से एक भी उपाय करके न देखा। बस, तुम तो इन्हीं दोनों में मगन हो। तुम्हारी इस बात से रात-दिन मेरा कलेजा सुलगता रहता है। आदमी उपाय तो करके देखता है। फिर होना न होना तो भगवान् के आधीन है।

बाबू साहब हँसकर बोले—तुम्हारी-जैसी सीधी स्त्री भी... क्या कहूँ, तुम इन ज्योतिषियों की बातों पर विश्वास करती हो,

जो दुनियाँ-भर के झूठे और धूर्त हैं! ये झूठ बोलने ही की रोटियाँ खाते हैं।

रामेश्वरी तुनककर बोलीं—तुम्हें तो सारा संसार झूठा ही दिखाई पड़ता है। ये पोथी-पुराण भी सब झूठे हैं? पण्डित कुछ अपनी तरफ़ से तो बनाकर कहते ही नहीं है। शास्त्र में जो लिखा है, वही वे भी कहते हैं। शास्त्र झूठा है, तो वे भी झूठे हैं। अंगरेज़ी क्या पढ़ी, अपने आगे किसी को गिनते ही नहीं। जो बातें बाप-दादे के जमाने से चली आई हैं, उन्हें भी झूठा बताते हैं।

बाबू साहब—तुम बात तो समझतीं नहीं, अपनी ही ओटे जाती हो। मैं यह नहीं कहता कि ज्योतिष-शास्त्र झूठा है। सम्भव है, वह सच्चा हो; परन्तु ज्योतिषियों में अधिकांश झूठे होते हैं। उन्हें ज्योतिष का पूर्ण ज्ञान तो होता नहीं, दो-एक छोटी-मोटी पुस्तकें पढ़कर ज्योतिषी बन बैठते और लोगों को ठगते फिरते हैं। ऐसी दशा में उनकी बातों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है?

रामेश्वरी—हूँ, सब झूठे ही हैं, तुम्हीं एक बड़े सच्चे हो! अच्छा, एक बात पूछती हूँ। भला तुम्हारे जी में सन्तान की इच्छा क्या कभी नहीं होती?

इस बार रामेश्वरी ने बाबू साहब के हृदय का कोमल स्थान पकड़ा। वह कुछ देर चुप रहे। तत्पश्चात् एक लम्बी साँस लेकर बोले—भला ऐसा कौन मनुष्य होगा, जिसके हृदय में सन्तान का मुख देखने की इच्छा न हो? परन्तु किया क्या जाय? जब नहीं है और न होने की कोई आशा ही है, तब उसके लिए व्यर्थ

चिन्ता करने से क्या लाभ? इसके सिवा जो बात अपनी सन्तान से होती, वही भाई की सन्तान से भी तो हो रही है। जितना स्नेह अपनी पर होता, उतना ही इन पर भी है। जो आनन्द उनकी बाल-क्रीड़ा से आता, वही इनकी क्रीड़ा से भी आ रहा है। फिर मैं नही समझता कि चिन्ता क्यों की जाय।

रामेश्वरी कुढ़कर बोली—तुम्हारी समझ को मैं क्या कहूँ। इसी से तो रात-दिन जला करती हूँ। भला यह तो बताओ कि तुम्हारे पीछे क्या इन्हीं से तुम्हारा नाम चलेगा?

बाबू साहब हँसकर बोले—अरे तुम भी कहाँ कि पोच बातें लाईं। नाम संतान से नहीं चलता। नाम अपनी सुकृति से चलता है। तुलसीदास को देश का बच्चा-बच्चा जानता है। सूरदास को मरे कितने दिन हो चुके? इसी प्रकार जितने महात्मा हो गये हैं, उन सबका नाम क्या उनकी संतान ही की बदौलत चल रहा है? सच पूछो, तो संतान से जितना नाम चलने की आशा रहती है, उतनी ही नाम डूब जाने की भी संभावना रहती है; परन्तु सुकृति एक ऐसी वस्तु है जिससे नाम बढ़ने के सिवा घटने की कभी आशंका रहती ही नहीं। हमारे शहर में राय गिरिधारीलाल कितने नामी आदमी थे? उनके संतान कहाँ है? पर उनकी धर्मशाला और अनाथालय से उनका नाम अब तक चला जा रहा है, और अभी न-जाने कितने दिनों तक चला जायगा।

रामेश्वरी—शास्त्र में लिखा है कि जिसके पुत्र नहीं होता, उसकी मुक्ति नहीं होती?

बाबू—मुक्ति पर मुझे विश्वास ही नहीं। मुक्ति है किस चिड़िया का नाम? यदि मुक्ति होना मान भी लिया जाय, तो यह कैसे माना जा सकता है कि सब पुत्रवानों की मुक्ति हो ही जाती है? मुक्ति का भी क्या सहज उपाय है। ये जितने पुत्रवाले हैं, सभी की तो मुक्ति हो जाती होगी?

रामेश्वरी निरुत्तर होकर बोली—अब तुमसे कौन बकवाद करे। तुम तो अपने सामने किसी की मानते हो नहीं।

(३)

मनुष्य का हृदय बड़ा ममत्व-प्रेमी है। कैसी ही उपयोगी और कितनी ही सुन्दर वस्तु क्यों न हो, जब तक मनुष्य उसको पराई समझता है, तब तक उससे प्रेम नहीं करता; किन्तु भद्दी से-भद्दी और बिलकुल काम में आनेवाली वस्तु को भी यदि मनुष्य अपनी समझता है, तो उससे प्रेम करता है। पराई वस्तु कितनी ही मूल्यवान् क्यों न हो, कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य कुछ भी दुःख का अनुभव नहीं करता; इसलिये कि वह वस्तु उसकी नहीं, पराई है। अपनी वस्तु कितनी ही भद्दी हो, काम में न आनेवाली हो उसके नष्ट होने पर मनुष्य को दुःख होता है; इसलिये कि वह अपनी चीज़ है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य पराई चीज़ से प्रेम करने लगता है। ऐसी दशा में भी जब तक मनुष्य उस वस्तु को अपनी बनाकर नहीं छोड़ता, अथवा अपने हृदय में यह विचार नहीं दृढ़ कर लेता कि यह वस्तु मेरी है, तब तक उसे सन्तोष नहीं

होता। ममत्व से प्रेम उत्पन्न होता है, और प्रेम से ममत्व। इन दोनों का साथ चोली-दामन का-सा होता है। ये कभी पृथक् नहीं किये जा सकते।

यद्यपि रामेश्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, तथापि उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उनके हृदय में वे गुण विद्यमान तथा अंतर्निहित थे, जो एक माता के हृदय में होते हैं; परन्तु उनका विकास नहीं हुआ था। उनका हृदय उस भूमि की तरह था, जिसमें बीज तो पड़ा हुआ है, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फुटित करके भूमि के ऊपर लानेवाला कोई नहीं; इसीलिये उनका हृदय उन बच्चों की ओर खिंचता तो था; परन्तु जब उन्हें ध्यान आता था कि ये बच्चे मेरे नहीं, दूसरे के हैं, तब उनके हृदय में उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता था, घृणा पैदा होती थी। विशेषकर उस समय उनके द्वेष की मात्रा और भी बढ़ जाती थी, जब वह यह देखती थीं कि उनके पति-देव उन बच्चों पर प्राण देते हैं, जो उनके (रामेश्वरी के) नहीं हैं।

शाम का समय था। रामेश्वरी खुली छत पर बैठी हवा खा रही थीं। पास ही उनकी देवरानी भी बैठी थीं। दोनों बच्चे छत पर दौड़-दौड़कर खेल रहे थे। रामेश्वरी उनके खेल को देख रही थीं। इस समय रामेश्वरी को उन बच्चों का खेलना-कूदना बड़ा भला मालूम हो रहा था। हवा में उड़ते हुए उनके बाल, कमल की तरह खिले हुए उनके नन्हे-नन्हे मुख, उनकी प्यारी-प्यारी तोतली बातें

उनका चिल्लाना, भागना, लोट जाना इत्यादि क्रीड़ाएँ उनके हृदय को शीतल कर रही थीं। सहसा मनोहर अपनी बहन को मारने दौड़ा। वह खिलखिलाती हुई दौड़कर रामेश्वरी के गोद में जा गिरी। उसके पीछे-पीछे मनोहर भी दौड़ता हुआ आया, और वह भी उन्हीं की गोद में जा गिरा। रामेश्वरी उस समय सारा द्वेष भूल गईं। उन्होंने दोनों बच्चों को उसी प्रकार हृदय से लगा लिया, जिस प्रकार वह मनुष्य लगाता है, जो कि बच्चों के लिये तरस रहा हो। उन्होंने बड़ी सतृष्णता से दोनों को प्यार किया। उस समय यदि कोई अपरिचित मनुष्य उन्हें देखता, तो उसे यही विश्वास होता कि रामेश्वरी ही उन बच्चों की माता हैं।

दोनों बच्चे बड़ी देर तक उनकी गोद में खेलते रहे। सहसा उसी समय किसी के आने की आहट पाकर बच्चों की माता वहाँ से उठकर चली गईं।

"मनोहर, ले रेलगाड़ी।"—कहते हुए बाबू रामजीदास छत पर आए। उनका स्वर सुनते ही दोनों बच्चे रामेश्वरी की गोद से तड़पकर निकल भागे। रामजीदास ने पहले दोनों को खूब प्यार किया, फिर बैठकर रेलगाड़ी दिखाने लगे।

इधर रामेश्वरी की नींद-सी टूटी। पति को बच्चों में मगन होते देखकर उनकी भौंहें तन गईं। बच्चों के प्रति हृदय में फिर वही घृणा और द्वेष का भाव जग उठा।

बच्चों को रेलगाड़ी देकर बाबू साहब रामेश्वरी के पास आए, और मुसकिराकर बोले—आज तो तुम बच्चों को बड़ा प्यार कर

रही थीं ! इससे मालूम होता है कि तुम्हारे हृदय में भी इनके प्रति कुछ प्रेम अवश्य है।

रामेश्वरी को पति की यह बात बहुत बुरी लगी। उन्हें अपनी कमज़ोरी पर बड़ा दुःख हुआ। केवल दुःख ही नहीं, अपने ऊपर क्रोध भी आया। वह दुःख और क्रोध पति के उक्त वाक्य से और भी बढ़ गया। उनकी कमज़ोरी पति पर प्रगट हो गई, यह बात उनके लिये असह्य हो उठी।

रामजीदास बोले—इसीलिये मैं कहता हूँ कि अपनी संतान के लिये सोच करना वृथा है। यदि तुम इनसे प्रेम करने लगो, तो तुम्हें ये ही अपनी संतान प्रतीत होने लगेंगे। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि तुम इनसे स्नेह करना सीख रही हो।

यह बात बाबू साहब ने नितांत शुद्ध हृदय से कही थी ; परन्तु रामेश्वरी को इसमें व्यंग्य की तीक्ष्ण गंध मालूम हुई। उन्होंने कुढ़कर मन में कहा—इन्हें मौत भी नहीं आती। मर जाँय, पाप कटे ! आठों पहर आँखों के सामने रहने से प्यार करने को जी ललचा ही उठता है। इनके मारे कलेजा और भी जला करता है।

बाबू साहब ने पत्नी को मौन देखकर कहा—अब झेंपने से क्या लाभ ? अपने प्रेम को छिपाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। छिपाने की आवश्यकता भी नहीं।

रामेश्वरी जल-भुनकर बोलीं—मुझे क्या पड़ी है, जो मैं प्रेम करूँगी ? तुम्ही को मुबारक रहे ! निगोड़े आप ही आ-आके घुसते हैं। एक घर में रहने से कभी-कभी हँसना-बोलना पड़ता है।

अभी परसों ज़रा यों ही ढकेल दिया, उस पर तुमने सैकड़ों बातें सुनाईं। संकट में प्राण हैं, न यों चैन, न वों चैन!

बाबू साहब को पत्नी के वाक्य सुनकर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कर्कश स्वर में कहा—न-जाने कैसे हृदय की स्त्री है। अभी अच्छी-ख़ासी बैठी बच्चों को प्यार कर रही थी। मेरे आते ही गिरगिट की तरह रंग बदलने लगी। अपनी इच्छा से चाहे जो करे; पर मेरे कहने से बल्लियों उछलती है। न-जाने मेरी बातों में कौन-सा विष घुला रहता है। यदि मेरा कहना ही बुरा मालूम होता है, तो न कहा करूँगा; पर इतना याद रक्खो कि अब जो कभी इनके विषय में निगोड़े-सिगोड़े इत्यादि अपशब्द निकाले, तो अच्छा न होगा! तुमसे मुझे ये बच्चे कहीं अधिक प्यारे हैं।

रामेश्वरी ने इसका कोई उत्तर न दिया। अपने क्षोभ तथा क्रोध को वह आँखों-द्वारा निकालने लगी।

जैसे-ही-जैसे बाबू रामजीदास का स्नेह दोनों बच्चों पर बढ़ता जाता था, वैसे-ही-वैसे रामेश्वरी के द्वेश और घृणा की मात्रा भी बढ़ती जाती थी। प्रायः बच्चों के पीछे पति-पत्नी में कहा-सुनी हो जाती थी, और रामेश्वरी को पति के कटु वचन सुनने पड़ते थे। जब रामेश्वरी ने यह देखा कि बच्चों के कारण ही वह पति की नज़र से गिरती जा रही हैं, तब उनके हृदय में बड़ा तूफ़ान उठा। उन्होंने सोचा—पराए बच्चों के पीछे यह मुझसे प्रेम कम करते जाते हैं, मुझे हर समय बुरा-भला कहा करते हैं।

इनके लिये ये बच्चे ही सब कुछ हैं, मैं कुछ भी नहीं ! दुनिया मरती जाती है ; पर इन दोनों को मौत नहीं। ये पैदा होते ही क्यों न मर गए। न ये होते, न मुझे ये दिन देखने पड़ते। जिस दिन ये मरेंगे, उस दिन घी के दिये जलाऊँगी। इन्होंने ही मेरा घर सत्यानास कर रक्खा है।

इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए। एक दिन नियमानुसार रामेश्वरी छत पर अकेली बैठी हुई थीं। उनके हृदय में अनेक प्रकार के विचार आ रहे थे, विचार और कुछ नहीं, वही अपनी निज की सन्तान का अभाव, पति का भाई की सन्तान के प्रति अनुराग इत्यादि। कुछ देर बाद जब उनके विचार स्वयं उन्हीं को कष्ट-दायक मालूम होने लगे, तब वह अपना ध्यान दूसरी ओर लगाने के लिये उठकर टहलने लगीं।

वह टहल ही रही थीं कि मनोहर दौड़ता हुआ आया। नोहर को देख कर उनकी भ्रकुटी चढ़ गई, और वह छत की चहार दीवारी पर हाथ रखकर खड़ी हो गईं।

सन्ध्या का समय था। आकाश में रंग-विरंगी पतंगें उड़ रही थीं। मनोहर कुछ देर तक खड़ा पतंगों को देखता और सोचता रहा कि कोई पतंग कट कर उसकी छत पर गिरे, तो क्या ही आनन्द आवे। देर तक पतंग गिरने की आशा करने के बाद वह दौड़कर रामेश्वरी के पास आया, और उनकी टाँगों में लिपट कर बोला—ताई हमें पतंग मगाँ दो।—रामेश्वरी ने झिड़क कर कहा—चल हट, अपने ताऊ से माँग जाकर।

मनोहर कुछ अप्रतिभ हो कर फिर आकाश की ओर ताकने लगा। थोड़ी देर बाद उससे फिर न रहा गया। इस बार उसने बड़े लाड़ में आकर अत्यन्त करुण-स्वर में कहा—ताई, पतंग मँगा दो—हम भी उड़ावेंगे।

इस बार उसकी भोली प्रार्थना से रामेश्वरी का कलेजा कुछ पसीज गया। वह कुछ देर तक उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखती रहीं फिर उन्होंने एक लंबी सांस लेकर मन-ही मन कहा—यदि यह मेरा पुत्र होता, तो आज मुझसे बढ़कर भागवान् स्त्री संसार में दूसरी न होती। निगोड़े-मारा कितना सुन्दर है, और कैसी प्यारी-प्यारी बातें करता है, यही जी चाहता है कि उठा कर छाती से लगा लें।

यह सोचकर वह उसके सिर पर हाथ फेरनेवाली ही थीं, कि इतने में मनोहर उन्हें मौन देखकर बोला—तुम हमें पतंग नहीं मँगवा दोगी तो ताऊजी से कह कर पिटवावेंगे।

यद्यपि बच्चे की इस भोली बात में भी बड़ी मधुरता थी, तथापि रामेश्वरी का मुख क्रोध के मारे लाल हो गया। वह उसे झिड़ककर बोलीं—जा, कह दे अपने ताऊजी से। देखूँ, वह मेरा क्या कर लेंगे।

मनोहर भयभीत होकर उनके पास से हट आया और फिर सतृष्ण नेत्रों से आकाश में उड़ती हुई पतंगों को देखने लगा।

इधर रामेश्वरी ने सोचा—यह सब ताऊजी के दुलार का फल है, कि बालिस्त-भर का लड़का मुझे धमकाता है। ईश्वर करे इस दुलार पर बिजली टूटे।

उसी समय आकाश से एक पतंग कट कर उसी छत की ओर

आई और रामेश्वरी के ऊपर से होती हुई छज्जे की ओर गई। छत के चारों ओर चहारदीवारी थी। जहाँ रामेश्वरी खड़ी हुई थीं, केवल वहीं पर एक द्वार था, जिससे छज्जे पर आ-जा सकते थे। रामेश्वरी उस द्वार से सटी हुई खड़ी थीं। मनोहर ने पतंग को छज्जे पर जाते देखा। पतंग पकड़ने के लिये वह दौड़कर छज्जे की ओर चला। रामेश्वरी खड़ी देखती रहीं। मनोहर उसके पास से होकर छज्जे पर चला गया और उनसे दो फ़िट की दूरी पर खड़ा होकर पतंग को देखने लगा। पतंग छज्जे पर से होती हुई नीचे घर के आँगन में, जा गिरी। एक पैर छज्जे की मुँड़ेर पर रखकर मनोहर ने नीचे आँगन में झाँका और पतंग को आँगन में गिरते देख प्रसन्नता के मारे फूला न समाया। वह नीचे जाने के लिये शीघ्रता से घूमा; परन्तु घूमते समय मुँड़ेर पर से उसका पैर फिसल गया। वह नीचे की ओर चला। नीचे जाते-जाते उसके दोनों हाथों में मुँड़ेर आ गई। वह उसे पकड़कर लटक गया और रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—ताई! रामेश्वरी ने धड़कते हुए। हृदय से इस घटना को देखा। उसके मन में आया, कि अच्छा है, मरने दो, सदा का पाप कट जायगा। यह सोचकर वह एक क्षण के लिये रुकीं। उधर मनोहर के हाथ मुँड़ेर पर से फिसलने लगे। वह अत्यन्त भय तथा करुण नेत्रों से रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—अरी ताई! रामेश्वरी की आँखें मनोहर की आँखों से जा मिलीं। मनोहर की वह करुण दृष्टि देखकर रामेश्वरी का कलेजा मुँह को आ गया। उन्होंने व्याकुल होकर मनो-

हर को पकड़ने के लिये अपना हाथ बढ़ाया। उनका हाथ मनोहर के हाथ तक पहुँचा ही था कि मनोहर के हाथ से मुडेर छूट गई। वह नीचे आ गिरा। रामेश्वरी चीख मारकर छज्जे पर गिर पड़ीं।

रामेश्वरी एक सप्ताह तक बुखार में बेहोश पड़ी रहीं। कभी-कभी वह ज़ोर से चिल्ला उठतीं, और कहतीं—देखो-देखो वह गिरा जा रहा है—उसे बचाओ—दौड़ो—मेरे मनोहर को बचा लो। कभी वह कहतीं—बेटा मनोहर मैंने तुझे नहीं बचाया। हाँ, हाँ, मैं चाहती, तो बचा सकती थी—मैंने देर कर दी।—इसी प्रकार के प्रलाप वह किया करतीं।

मनोहर की टाँग उखड़ गई थी। टाँग बिठा दी गई। वह क्रमशः फिर अपनी असली हालत पर आने लगा।

एक सप्ताह बाद रामेश्वरी का ज्वर कम हुआ। अच्छी तरह होश आने पर उन्होंने पूछा—मनोहर कैसा है?

रामजीदास ने उत्तर दिया—अच्छा है।

रामेश्वरी—उसे मेरे पास लाओ।

मनोहर रामेश्वरी के पास लाया गया। रामेश्वरी ने उसे बड़े प्यार से हृदय से लगाया। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। हिचकियों से गला रुँध गया।

रामेश्वरी कुछ दिनों बाद पूर्ण स्वस्थ हो गईं। अब वह मनोहर की बहन चुन्नी से भी द्वेष और घृणा नहीं करतीं। और, मनोहर तो अब उनका प्राणाधार हो गया है। उनके बिना उन्हें एक क्षण भी कल नहीं पड़ती।

७—श्रीशिवपूजन सहाय

आप बिहार के निवासी हैं। आपकी भाषा माधुर्य से परिपूर्ण होती है। आप सच्चे कलाविद् की भाँति भाषा को खूब अलंकृत करते हैं। आपकी कई पुस्तकें—'महिला-महत्व' 'देहाती-दुनिया' आदि—प्रकाशित हो चुकी हैं। पहले आपने 'बालक' का सम्पादन बड़ी योग्यता से किया, अब 'गंगा' का सम्पादन करते हैं।

तूती-मैना

(१)

सी को मस्त और किसी को पस्त करने वाला, किसी को चुस्त और किसी को सुस्त करने-वाला, कहीं अमृत और कहीं विष बरसाने-वाला—कहीं निरानन्द बरसाने वाला और कहीं रसानन्द सरसाने वाला यथा अखिल अण्डकटाह में नई जान, नई रोशनी, नई चाशनी, नई लालसा और नई-नई सत्ता का संचार करने वाला सरस वसन्त पहुँच चुका था। नवपल्लव-पुष्पगुच्छों से हरे-भरे कुञ्ज-पुञ्जों में वसन्त-बसीठी मीठी-मीठी बोली बोलती और बिरह में विष घोलती थी। मधुर मधु-मयी माधवी-लता पर मँड़राते हुए मकरन्द-मत मधुकर, उस—चराचर मात्र में नूतन शक्ति सञ्चालन करने वाले—जगदाधार का गुन-गुनकर गुण गाते थे। लोनी लतिकाएँ सूखे-रूखे वृक्षों से भी लिपट रही थीं। वसन्त-वैभव ने उस वन को विभूतिशाली बना दिया था।

उसी सघन वन में, नवकिसलय से सुशोभित एक अशोक-वृक्ष तले, एक सजीव सुषमा की सौम्य मूर्त्ति, लहलही लता-सी तन्वी,

सरल-तरल दृष्टि वाली, कोई कान्तिमयी कान्ता, खड़ी-खड़ी मल्लिका-बल्लरी-वितानों के भीतर कबूतरों की क्रीड़ा एवं अलि-अवलि-केलि-लीला देख-देख चकित हो, चिबुक पर तर्जनी अँगुली रखकर, मन्द-मन्द मुसुकानों की लड़ियाँ गूँथ रही थीं। मंजुल-मञ्जरी-कलित तरु-वर की शाखाओं पर, शान से तान का तीर मारनेवाली काली-कलूटी कोयल, पल्लवावगुण्ठन में मुँह छिपाये बैठी हुई, इस अनूपरूपा सुन्दरी को देख रही थी। शीतल-सुरभित समीर विलुलित अलकावली-तीर डोल-डोलकर रस घोल जाता था। चञ्चल पवन अंचल पर लोट-लोटकर अपनी विकलता बताता था। धीरे-धीरे लहराती हुई कालिन्दी की लहरों के सदृश चढ़ाव-उतारववाली, श्याम-सुचिक्कण कुंचित कुन्तलराशि, नित-म्बारोहण करती हुई, आपाद लटक रही थी। यद्यपि निराभरण शरीर पर केवल एक सामान्य वस्त्र ही शेष था; तथापि वह शैवाल-जाल-जटित सुन्दर सरोजनी-सी सोहती और मन मोहती थी। नैनसुख की धोती ही नयनों को सुख देती थी। रूप-रङ्ग में अप्र-तिम होने के कारण अथवा लाड़-प्यार किम्वा संसार से विलग रहने से, न-जाने क्यों—उसके "तूती-मैना" आदि कई एक जंगली नाम पड़े थे। जैसे जल-शून्य वनस्थली में बहुरंगे सुरभित सुमन खिल-खिलकर अछूत और अज्ञात ही रह जाते हैं, उसी तरह वह मंजुभाषिणी सुहासिनी भी उस वन में दिन बिता रही थी।

फूलों को चुन-चुनकर माला गूँथना, कँगना बनाना, बाजूबन्द बनाना, अपने रेशम के-से मुलायम बालों में फूलों की कलियाँ गूँथना,

हरिणियों की देह पर धीरे-धीरे हाथ फेरते रहना, कान देकर पक्षियों का गाना सुनना और नदी से कलसी में जल भर-भरकर द्रुमगुल्म-लतादिकों को सींचना—ये ही उसके नित्य के कृत्य थे। जब वह गङ्गा में कलसी भरने जाती, तब मुकुरोज्ज्वल मन्दाकिनी में अपनी परछाईं देखकर, अपनी सुन्दरता पर आप ही मुग्ध होकर मुस्कराने लगती थी !

कभी-कभी शून्य स्थान में स्वच्छन्द विहार करनेवाले पक्षियों और भ्रमरों को किलोलें करते देखकर उसके मन में यौवन-मद-जनित एक प्रकार का मनोविकार-सा उदय हो आता था ; किन्तु उससे वह प्रभावान्वित नहीं होती थी। एक तो कोमल-कमल-कलिका-सी सुकुमारी, दूसरे त्रिवली-सोपान द्वारा मन्मथ-महेन्द्र का क्रमशः आरोहण और तीसरे एकान्त वसन्त-वेष्टित वन में वास—सब कामोद्दीपक सामग्रियाँ जहाँ अहर्निश आँखों के सामने खेल-खेलकर रिझा रही थीं, वहाँ भला चपला-चंचल तारुण्य से आक्रान्त अबला का निवास कैसा कष्ट-कर था !!! कभी-कभी रुचिर-रश्मि-राशि राकेश के सुधा-सिक्त किरण-कन्यकाओं को पार्श्ववर्तिनी पुष्करिणी के स्फटिकोपम जल-वक्ष-स्थल पर थिरकते हुए देखकर यों ही मुस्करा उठती थी। जब वह कबूतरों को गोद में लेकर प्रेम-पूर्वक चूमने-चाटने लगती थी, तब वे स्निग्ध-कर-स्पर्श-जन्य अद्भुत सुख का अनुभव करते हुए, गोद में सटकर, पुलक-पल्लवित शरीर को फुलाकर, आनन्दोत्फुल्ल अर्द्धोन्मीलित नयनों से, मृगनयना मैना के सुधाधरोपम मुखड़े की ओर देखते हुए,

उसकी पतली-पतली और नन्ही-नन्ही कोमलारुण अँगुलियों को चोंच में लेकर, धीरे-धीरे, पीने लगते थे।

(२)

वनान्त-प्रदेश-वासी राजा राजीव-रञ्जनप्रसादसिंह के प्रिय दत्तक पुत्र शशि-शेखर-कुमार, घोड़े पर सवार होकर, मृगया खेलने उसी वन में आये हुए थे। किशोरावस्था थी। निडर और ढीठ थे। घोड़ा मानों हवा से बात करने वाला था। इसी से शायद उसका नाम 'पतीला' रखा गया था। उसकी सजावट, तेजी और डील-डौल देखकर देखनेवाले दाँतों अँगुली दबा लेते थे। कुमार साहब उसी अशोक के पास पहुँच गये, जहाँ वही शान्तोज्ज्वल स्मित-विकसित मुखड़ा चतुर्दिक आनन्द की वृष्टि कर रहा था। वह भुवन-मोहन रूप देखते ही कुमार का मन निहाल हो गया! घोड़े से उतरकर, मन-ही-मन सोचने लगे कि—'नैवं रूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले!'—'लोचन लाहु हमहिं विधि दीन्हा'—कुमार किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो खड़े रह गये! जिन्होंने कभी गजेन्द्र-कुम्भ-विदारक मृगेन्द्र का भी, बिना मारे, पीछा न छोड़ा था, उसी कुमार का कड़ा कलेजा, एक सौकुमार्य्य-पूर्ण सुन्दरी को देखते ही मोम हो गया! जो कुमार अपनी डपट की झपट से छलाँग मारते हुए केसरी-किशोर को तत्क्षण भूमि शायी कर देते थे, वे ही वीर कुमार उस वामाक्षी को देखकर एक बात भी नहीं बोल सके,—निरे अवाक् रह गये! किसी तरह धैर्य्य धारण कर कुछ-कुछ लड़-खड़ाती हुई जुबान से बोले—हे शुचिस्मिते! तुम किन-किन

अक्षरों को पवित्र करती हो ? किस शुभ देश से तुम्हारा वियोग हुआ है ?

कुमार के प्रश्नों का उत्तर न मिला। विशाल-लोल लोचनों से दो-चार बूँद आँसू टपक पड़े ! मानो 'मानस-सरोवर' के रुचिर 'राजीव' से हंस द्वारा संचित—'मोती' झरते हों। क्यों ? "सो सब कारण जान विधाता !"

कुमार को, आँसू टपकते देखकर, बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उससे उसके रोने का कारण पूछने का उन्हें साहस न हुआ। उन्होंने सोचा कि नाम-धाम पूछने का तो यह नतीजा हुआ ; दुबारा कुछ पूछने से न-जाने क्या-क्या गुल खिलेंगे !—अभी तो थोड़ी देर हुई कि, हास्यमुक्ता-माला से मुख-मण्डल मण्डित था। न-जाने क्यों अब अश्रु-बिन्दु-मुक्तावली गूँथकर स्वपद-तलस्थ-मृदुल-दूर्वादलों का मण्डन करने लगी ! हाँ, जो दूर्वादल उसके शयन करके के लिये मृदुशय्या बनकर उसे सुख देते हैं, उन वन्य-शष्यों का मूल-सिञ्चन उसके लिये क्या कोई अनुचित काम है ? जो हमारे सुख के लिये अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर देता है, उसके लिये यदि हम अपने कलेजे का खून भी दे दें, तो कौनसी बड़ी बात है ? यही सोचते-सोचते कुमार 'कहि न सकै कछु चितवत ठाढ़े।"

थोड़ी देर सँभलकर एक ओर बड़े जोर से दौड़ पड़े। फिर कुछ ही देर में, एक पलाश के दोने में वन्य कन्द-मूल-फल ले आकर तूती के सामने रख दिये। कमल के पत्ते को चारों ओर से

चुनकर, कुश से उसका मुँह बाँधकर, कमण्डल बनाया और उसी में पास ही की नदी से थोड़ा जल लाये परन्तु "प्रेम-विवश मुख आव न बानो"—साहस पर भार देकर बोले—देवि! तुच्छ आतिथ्य स्वीकार करो।

सौन्दर्य्य में बड़ी विलक्षण विद्युत्-शक्ति है! जिसके सामने दासगण सदैव हाथ बाँधे खड़े-खड़े मुँह जोहते रहते हैं, जो प्रचुर प्रजामण्डली का भावी शास्ता है, उस समर्थशाली नृपनन्दन को भी क्षणमात्र में सौन्दर्य्य ने कैङ्कर्य्य सिखा दिया!

• • • •

ठीक है, यदि सौन्दर्य्य में ऐसी अद्भुत आकर्षण-शक्ति न होती, तो मत्स्योदरी का नाम योजन-गन्धा कैसे होता? नारद के समान विरागी भजनानन्दी व्याकुलता की पराकाष्ठा तक क्यों पहुँचते? बेचारे राक्षस अमृत के बदले मदिरा क्यों पी लेते? उर्वशी भला "नारायण' के बदले 'पुरुरवा' का नाम लेकर क्यों स्वर्ग-च्युत होती? सूर्पणखा को अपने नाक-कान कटाने की क्या पड़ी थी? गोपियाँ लोक-लाज की तिलाञ्जलि क्यों देतीं? रुक्मिणी खिड़की की राह से कृष्ण को प्रेम-पत्र क्यों भेजती? ऊषा की सखी चित्रलेखा अपनी चित्र-कला-कुशलता का परिचय कैसे देती? मानिनी राधिका के पैरों की महावर नन्दनन्दन के माथे का तिलक कैसे होती?

• • • •

(३)

एक अपरिचित मनुष्य के सामने तूती कन्द-फल-दल-जल, कुछ भी, छू न सकी। लज्जावनत-मुखी होकर सरलता-पूर्वक बोली—तब तक इस चटाई पर बैठिये, पिताजी बाहर से आते होंगे।—तूती की वाणी सुनकर राजकुमार की दक्षिण भुजा और आँख फड़क उठी। उस चटाई पर बैठकर कुमार मखमली गद्दी की गुद-गुदी अनुभव करने लगे। वे सोच रहे थे कि—

'कहत मोहिं लागत भय, लाजा ;
जौं न कहौं बड़ होइ अकाजा।'

कुमार की सांसारिक कुवासनाओं में तूती के प्रेम की-सी अलौकिक पवित्रता और क्षमता नहीं थी। जिस प्रकार गङ्गा में मिलकर कर्मनाशा भी शुद्ध हो गई, उसी प्रकार तूती की सर-लता-सुरसरी में कुमार की कुवासना-कर्मनाशा मिलकर निर्मल हो गई! उनकी इच्छा थी कि हमारे तमाच्छन्न हृदय में इसी छवि-दीप-शिखा का उजाला होता ; इसी बाहु-लता की सघन छाया में हमारा प्राण-पथिक विश्राम करता, इन्हीं अधर-पल्लवों की ओट में हमारा प्राण-पखेरू छिपकर शान्ति पाता और इसी स्वर्गीय सौन्दर्य्य-सुधा का एक घूँट पीकर हम अमरत्व लाभ करते ; किन्तु कुमार की कलुषित कामना कुण्ठित हो गई! तूती का सारल्य उनकी कामना पर विजयी हुआ! नीच जल-विन्दु भी जैसे कमल दल के संयोग से मुक्ताफल की-सी श्री धारण करता है, राजस

सुख के उपासक कुमार का चित्त सात्त्विक सुख का अनुभव करते-करते वैसे ही धवलित हो गया !

प्रेमोन्मत्त मधुप कमलिनी को इतना रिझाता है कि, वह अपने दिल के सब पर्दे खोलकर भौंरे को भीतर बुलाकर, अनेक स्निग्ध-सुगन्धमय आवरणों के अन्दर छिपा लेती है। वह चाहती है कि, मेरी सुन्दरता पर अपना तन-मन-धन न्योछावर कर देनेवाले अनन्य प्रेमी पर अब कोई दूसरा डाही डीठ न डालने पावे।

हंस-गण प्रति-दिन आते हैं, चमकीली सीपियों के स्फुटोन्मुख मुख चूम-चूमकर चले जाते हैं। सीपियाँ भी एक दिन दिल खोल-कर उनके सामने मोतियों की डाली लगा देती हैं।

वंशी टेरनेवाला, प्रेम में खूब डूब कर, अपने हृदय का माधुर्य्य अधरों में भरकर, जब निभृत निकुञ्ज में सुरीली तान छेड़ने लगता है, तब हृदयहारिणी हरिणी भी कहने लगती है—

'चाम काटि आसन करो, माँस राँधि कै खाउ ;
जब लौं तन में प्रान है, तब लौं बीन बजाउ।'

(४)

भगवान् भास्कर संसार-भर के शुभाशुभ कर्मों का निरीक्षण करके, कर्त्तव्य-परायणता का परिचय देते हुए, पश्चिमांचल की ओर चल पड़े। संध्या-वधू ने अपने धूसर अञ्चल से धरणी का नग्न पृष्ठ-देश ढक लिया। थोड़ी देर के बाद, ताराओं की मुक्ता-माला पहन, ललाट पर चन्द्र-चन्दन की बिंदी लगा, दिगङ्गनाओं

को उज्ज्वल दर्पण दिखाती और चकोरों को चाँदनी की चाशनी चखाती हुई, राका-रजनी-रमणी आ पहुँची। उस समय मालूम हुआ, मानो यह दुनिया ज्योत्स्ना-तरङ्ग में स्नान कर रही है।

चटाई पर बैठे-बैठे कुमार अनुक्षण रूप-सुधा-माधुरी पान कर रहे थे। चन्द्रमा के किरण जाल में अपने सौन्दर्य्य-सुरसरी गत मन-मीन को फँसाने की असफल चेष्टा कर रहे थे। कभी सिन्दुरिये आम और चिबुक से, कभी विकसित किंशुक-कुसुम और नासिका से, कभी अंगूर के गुच्छों और स्तन-स्तवक से कभी पके जम्बूफल और कुन्तल-कलाप से, कभी अनार-दानों और सुशोभन दन्त-पंक्ति से, कभी पकी हुई नारङ्गी और देह की गौरवमयी गोरता से तथा कभी मृगशावक के आकर्ण-विस्तृत नेत्रों और तूती के तरलायत लोचनों से सादृश्य मिलाते थे। कभी कण्ठ से विद्रुम की माला निकालकर उसमें उन कोमल अधरों की-सी अरुणिमा ढूँढ़ते थे। किन्तु वह पीन-घन-सजीव शोभा कहीं मिलती न थी।

एकाएक प्रेमान्ध होकर फिर कुमार ने कहा—हे कन्दर्प-कीर्ति-लतिके! ये तेरे विषम विशिख-सरीखे नयन तो शेर के शिकारियों का भी शिकार करने वाले अचूक आखेटक मालूम होते हैं?—भोली-भाली तूती कूप मण्डूक थी। उस वन्याश्रम और उस कुञ्ज-कुटीर के सिवा भी कोई स्थान संसार में है, यह उसे मालूम ही नहीं था, कुमार की उक्तियाँ सुनकर, सरल हँसी हँसती हुई, तूती उनका मुख निहारती रह जाती थी। तूती का भोलापन

देखकर कुमार मुग्ध हुए बिना न रह सके। वे मन-ही-मन सोचते थे कि चाहे तूती देवाङ्गना हो या वनदेवी हो; पर अपने राज्य में आई हुई सर्वोत्तम वस्तु को अब दूसरे किसी के हाथ में न जाने दूँगा। राज्यभर में जितनी उत्तमोत्तम वस्तुएँ हों, उन सबका संग्रह राजाओं को अवश्य ही करना चाहिये।

(५)

द्रुम-लताओं की ओट में छिपे-छिपे एक महात्माजी सारी प्रेम-लीला देख रहे थे। तूती की स्वाभाविक सरलता और कुमार की प्रेमकता देखकर हँसते-हँसते ये पूरब की ओर से प्रकट हुए। मानो आशुतोष शिव औढरदानी तूती और कुमार के प्रेम-याग से सन्तुष्ट होकर उनके मनोरथ पूर्ण करने के निमित्त प्रकट हुए हों। महात्माजी सर्वाङ्ग में भस्म रमाये, सिर पर जटा बाँधे और हाथ में सुमिरनी लिये हुए थे। इन्होंने ही तूती को, गंगा की बाढ़ में बहते जाते हुए देखकर, पकड़ा था और चार वर्ष की अवस्था से ही आज सोलह वर्ष की अवस्था तक, बड़े लाड़-प्यार से पाला था।

महात्मा को देख कर तूती सहम गई। राजकुमार, चकित होकर चरणों में झुक गये। महात्मा ने पूछा—तू कौन है। तेरा यहाँ क्या काम है?—राजकुमार ने हाथ जोड़कर कहा—महात्मन्! मृगयावश इस जंगल में चला आया हूँ। एकाएक मैं आपकी कुटी की ओर निकल आया। यहाँ आने पर, मैं इस देवी को देखकर स्तम्भित हो गया। मैंने ऐसा भोला-भाला अनूठा रूप कभी देखा नहीं था। इस पर्ण-कुटी के पास आते ही, मैंने

इस देवी को रोते देखा। कुछ ही देर पहले यह हँस रही थी। इसका रोना देखकर मैं अधीर हो गया। इसे भूख-प्यास के कारण रोते जानकर, मैं विमल-सलिला गङ्गा में से थोड़ा जल और कुछ जंगली फल ले आया; किन्तु इसने मेरा सत्कार स्वीकार नहीं किया है। इसका कारण मुझे ज्ञात नहीं। इसके सिवा मेरा कोई अपराध नहीं। अभी तक मैंने इस देवी की केवल मानसिक पूजा की है। इस अलौकिक रूप ने मुझे अपना किंकर बना लिया है। मैं इस अमूल्य रत्न का भिक्षुक हूँ। आप इस अपराध को यदि दण्डनीय समझते हैं, तो इस अतुलनीय रूप-रत्न का याचक बनकर मैं आपका शाप भी ग्रहण कर सकता हूँ।

राजकुमार की सच्ची बातें सुनकर महात्मा ने कहा—हम तुम्हारे सद्भाव से सन्तुष्ट हैं। तुम राजकुमार जान पड़ते हो। तुम्हारा ब्रह्मचर्य्य-प्रदीप्त मुख-मण्डल देखकर हम प्रसन्न हैं। यह कन्या गंगा की बाढ़ में बहकर आई थी। हमने बड़े स्नेह से उसका पालन-पोषण किया है। आज हमारा स्नेह-सम्वर्द्धन सार्थक हुआ। हमारे-जैसे विजन-वन-विहारी वाताम्बु-पर्णाहारी की कुटी मे इसको कष्ट होता था। यह तुम्हारे राजमन्दिर के ही योग्य है। हम हृदय से आशीर्वाद देते हैं कि यह मणि-काञ्चन-सयोग सफल हो। मणि का स्थान राजमुकुट ही उपयुक्त है।

(६)

शशि-शेखर-कुमार भी एक राजा के लाड़ले पुत्र ही तो थे। अकण्टक सुख से पला हुआ उनका शरीर मक्खन-सा मुलायम

और चिकना था। दीर्घ भुजायें, चौड़ी ऊँची छाती, चटकीला चेहरा, कसरत से कसी हुई देह और प्रशस्तोन्नत ललाट—सभी अवयव मनोहर थे। मोतियों से गुँथी सोने की गोल-गोल बालियाँ कानों में पड़ी थीं। कानों तक फैले हुए नेत्र यों सोहते थे, मानों मुक्ता-फल उगलती हुई सीपियों के मुख चलित-पत्र-युक्त पद्म चुम्बन कर रहे हों। तूती के योग्य ही सुवर्ण-घटित-प्रेम-पञ्जर मिल गया! सोने के पींजरे में सोने की चिड़िया बन्द हो गई!

वन के तोते जब पींजरों में बन्द होकर जन-समुदाय में आते हैं, तब पाण्डित्य प्राप्त कर अपना जीवन आदर्श बना लेते हैं। सुन्दर सरोवरों में चाहे कितना ही सुन्दर सरोज क्यों न खिले; पर जब तक भगवान् शशिशेखर के मस्तक पर वे नहीं चढ़ते, तब तक उनका संसार में होना न होना, दोनों बराबर रहता है। जो वन ही में फूलते और झर जाते हैं, उन पुष्पों का उपयोग ही क्या है? कण्व-कन्या यदि दुष्यन्त की हृदय-सर्वस्वा नहीं हुई होती, तो उसके अंक-गगन में भरत-सरीखे पुत्र-पूर्णेन्दु के दर्शन पाकर संसार किस प्रकार पुलकित होता? 'महाकवि' का 'शाकुन्तल' ही आज क्यों संसार में सर्वोच्च आसन पाता?

ठीक है—जिसने चन्द्रमा को सुन्दर बनाया, उसी ने चकोर के हृदय को भी प्रेममय बना दिया। जिसने मेघ को श्याम-सुन्दर बनाया, उसी ने बिजली को भी व्रज-बाला बना दिया! फूल बनानेवाले ने ही भ्रमर के छोटे से हृदय-केन्द्र में अगाध प्रेम-सागर उमड़ाकर 'गागर में सागर' भर दिया!

(७)

अहा ! जो तूती शून्यारण्य में चहकती थी, जिसके कुन्तल-कपाल को पन्नगी-परिवार समझकर मयूर-माला अपनी चोंचों से धीरे-धीरे बखेरती थी, जिसके दिये हुए अनारदानों को चखनेवाले शुक-शावक कुटी के पास वृक्ष-शाखाओं पर बैठकर नित्य ही कलरव करते थे, जिसकी बोली सुनकर जङ्गली मैना भी अपनी बोली बिसार कर वैसी ही मीठी बोली बोलने का अभ्यास किया करती थी, जिसके फूलों से भरे अञ्चल में से बावले-उतावले भ्रमरों का झुण्ड निकल-निकलकर, सुरभित-श्वास-समीर के लोभ से, घ्राण-रन्ध्र के पास टूट पड़ता था, वही तूती अब राज-प्रासाद के मखमली पर्दों में, वृहद्दर्पणालंकृत विविध-चित्र विभूषित विलास-मन्दिरों में और खस की टट्टियों से जड़ी हुई बारहदरियों में बन्द रहने लगी। जो बिजली वन में तूती की शोभा निहारकर आरती उतार जाती थी, अब वही बिजली खिड़कियों की राह से भी झाँकने नहीं पाती—तड़प-तड़पकर बाहर ही रह जाती है ! वन्य वृक्ष लता-दिकों को सींचने के समय तूती के विधु-वदन पर जो श्रम-स्वेद-कण परिलक्षित होते थे, उन्हें प्रकृति देवी अपनी पवनान्दोलित लतिका-कन्याओं के पुष्पमय अञ्चलों से पोंछ लेती थीं ; अब उन्हीं कुंडल कलित कल-कपोलों को शशि-शेखर-कुमार अपनी सुगन्ध सिक्त रेशमी रुमालों से पोंछकर, उन्हें आखों से लगा लेते हैं। जो हाथ झंझावात के झोंके से इतस्ततः उलझी हुई लताओं को सुधारने में सधे थे, अब वे ही हाथ हारमोनियम और सितार पर सध गये।

संसार का सारा सौन्दर्य्य यदि प्रेम की सुगन्ध से शून्य हो जाय, तो ईश्वर ने अपने 'मनोरञ्जन' के लिये जो यह विश्व-महा-नाटक रचा है, उसका पहला पर्दा कभी न उठे। सारा खेल मटियामेट हो जाय। प्रेम की सुगन्ध के बिना यह जीवन-कुसुम सौन्दर्य्य की थाली लेकर क्या करेगा ?

देखिये, जिन पर्वत-शिलाओं पर घास-पात का पर्दा पड़ा था, जिनका कलेवर काई से ढका रहता था, जिन पर चाँदनी भी आकाश से उतरकर घड़ी-भर के लिये रँगरलियाँ मचा जाती थी, वही शिलाएँ आज पहाड़ की चोटियों से उतरकर प्रेमवश दृष्टि-उन्मेषिणी एवं लोचनानन्ददायिनी मूर्त्ति बनकर, देव-मन्दिरों में आ डटी हैं। अब उनका कलेवर प्रकृति की गोद में पले हुए फूलों से ढका हुआ नहीं है ; बल्कि दूध की धाराओं से सींची हुई संगमर्मरी क्यारियों में फूलनेवाले फूलों के मोटे-मोटे गजरे उन्हें पहनाये जाते हैं ! काई के बदले अब हरे रंग की जरीदार मख-मली पोशाक सुशोभित हो रही है ! यही इस परिवर्तनशील संसार की विचित्रता है !

'मैना ! तू बनवासिनी, परी पींजरे आनि ;
जानि दैव-गति ताहि में, रही शान्त सुख मानि।'

• • • •

'कहें 'मीर' कवि नित्य, बोलती मधुरे बैन ;
तौभी तुझको धन्य, बनी तू अजहूं 'मै-ना'।'

८—श्रीचण्डीप्रसाद, बी० ए० 'हृदयेश'

आप पीलीभीत के निवासी थे। आपके देहावसान को तीन वर्ष हो गये। आप सानुप्रास भाषा लिखते थे। आपकी लेखन-शैली मधुर और चरित्र-चित्रण आकर्षक होता था। यदि आप कुछ काल तक और जीवित रहते, तो हिन्दी-साहित्य में एक विशिष्ट धारा प्रवाहित कर जाते। आपके 'मंगल-प्रभात' और 'मनोरमा' आदि उपन्यास तथा 'नन्दन-निकुञ्ज' आदि गल्प-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ दिनों तक आप 'चाँद' के सहकारी संपादक भी रह चुके हैं। कविताएँ भी आप अच्छी लिख लेते थे।

मुस्कान

(१)

ह शुभ दिन धीरे-धीरे निकट आने लगा, जिस दिन सुशीला की गोद भरी-पुरी होनेवाली थी! मातृत्व ही नारी-जीवन का परम सार है और उसी सार-वस्तु की सुशीला शीघ्र ही अधिकारिणी होनेवाली है—यह जान-कर सुशीला के पति सत्येन्द्र भी परम प्रसन्न हुए। दाम्पत्य-जीवन-रूपी कल्पतरु में मधुर फल के आगमन की सूचना पाकर पति-पत्नी के आनन्द का पारावार नहीं रहा।

सुशीला के सास-ससुर कोई नहीं थे; इसलिए सुशीला को कभी-कभी अन्तर्वेदना हुआ करती थी; पर वह व्यथा पति के पवित्र शीतल-प्रेम सलिल से शीघ्र ही शान्त हो जाया करती थी। सुशीला अपने गृह की एकमात्र अधिश्वरी होने के साथ-ही-साथ अपने पति के अखण्ड प्रेम की भी एकमात्र अधिकारिणी थी। सत्येन्द्र सुशीला को अपनी आत्मा का ही दूसरा स्वरूप मानते थे और वे उसे अपने गले की मणिमाला के समान बड़े आदर और यत्न

से रखते थे। जबसे सुशीला को गर्भ-स्थिति हुई, तब से तो उन्होंने उसकी सुश्रूषा और सेवा की और भी सुचारु व्यवस्था कर दी थी। पहले घर में केवल एक वृद्धा दासी थी, अब उन्होंने सुशीला की समवयस्का एक और परिचारिका का भी प्रबन्ध कर दिया। वे उसकी इच्छा की सदा पूर्ति किया करते थे! खाने-पीने में छोड़कर बाक़ी उसकी और किसी अभिलाषा का वह प्रतिवाद नहीं करते थे। सुशीला के मुख से निकलते-निकलते ही वे उसकी इच्छा को पूरी कर देते। प्रातःकाल और सायंकाल वे उसे अपने साथ लेकर गृह-संलग्न उद्यान में शीतल मधुर वायु का सेवन करते। रात्री में भोजन के उपरान्त वे उसे धार्मिक वीर पुरुषों की पवित्र गाथाएँ सुनाते और उनकी सदा यही चेष्टा रहती कि सुशीला का मनोरञ्जन होता रहे। सुशीला के मन में दुःख अथवा ग्लानि की एक क्षीण रेखा भी अङ्कित न होने पावे—इस विषय में सत्येन्द्र सदा प्रयत्नशील रहते।

रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत हो चुका है। सत्येन्द्र अपने कमरे में एक आराम कुर्सी पर लेटे-लेटे किसी ग्रन्थ का पारायण कर रहे हैं—पास ही एक दूध के फेन के समान कोमल शय्या पर सुशीला लेटी हुई है। सुशीला एक टक अपने प्राणाधार के प्रोज्ज्वल मुख की ओर देख रही है। थोड़ी देर तक इस प्रकार रूप-सुधा पी चुकने के उपरान्त सुन्दरी सुशीला ने मृदुल मन्द स्वर में कहा—नाथ! मेरी एक इच्छा है।

सत्येन्द्र—कहो प्रिये! निस्संकोच भाव से कह डालो। मैं

तुम्हारी इच्छा की अवश्य ही यथा-शक्ति पूर्ति करूँगा। ऐसा करने से मुझे बड़ा आनन्द मिलता है।

सुशीला—सो जानती हूँ देव! यद्यपि आपने मेरी सुश्रूषा के लिये दो-दो परिचारिकायें नियुक्त कर दी हैं; पर तो भी मैं सोचती हूँ कि यदि इस समय कोई अपना आत्मीय स्वजन आ जाता, तो बड़ा अच्छा होता। दोनों परिचारिकायें मेरी बड़ी सेवा करती हैं; पर तो भी जो स्नेह, जो आदर अपने आत्मीय से मिल सकता है, वह इन परिचारिकाओं से प्राप्त नहीं हो सकता।

सत्येन्द्र—इसमें सन्देह नहीं। इस विषय में मैं भी सोचता था; पर कुछ समझ में नहीं आता। बहुत सोचने पर भी कोई ऐसा आत्मीय नहीं दिखाई पड़ता, जिसके आ जाने से तुम्हारी सेवा-सुश्रूषा की मधुर व्यवस्था हो सके। मेरी चचेरी भाभी हैं—उनका स्वभाव तुम जानती ही हो—वह बड़ी कर्कशा हैं। और भी दो-एक निकट सम्बन्धिनी हैं; पर वे भी सब लगभग एक ही-सी हैं। तुमने कुछ इस विषय में सोचा है प्रिये?

सुशीला—नाथ! यदि गुणसुन्दरी को बुला लिया जाय, तो कैसा हो?

सत्येन्द्र—बहुत उत्तम। तुमने बहुत ठीक सोचा। वास्तव में उसके आ जाने से सब ठीक हो जायगा।

गुणसुन्दरी सुशीला की छोटी बहिन है। उसका विशद परिचय हम अगले परिच्छेद में देंगे—सत्येन्द्र स्थानीय कॉलेज में साहित्य के प्रोफेसर थे। उन्होंने दूसरे दिन कॉलेज पहुँचते ही

लखनऊ को, जहाँ सुशीला का मायका था, गुणसुन्दरी के बुलाने के लिये तार भेज दिया। तीसरे दिन ही गुणसुन्दरी अपने भाई के साथ आ गई।

पतिव्रता स्त्री की उपलब्धि जिस प्रकार पति के लिये परम-सौभाग्य का विषय है, एकान्त अनुरक्त पति की प्राप्ति भी पत्नी के लिये पूर्वकृत पुण्य-पुञ्ज की उतनी ही मधुर भेंट है।

(२)

गुणसुन्दरी सुशीला की कनिष्ठा सहोदरा है। वह उससे ३ वर्ष छोटी है अर्थात् इस समय उसकी अवस्था १७ वर्ष की है। गुणसुन्दरी ने आते ही घर की व्यवस्था के समस्त नियमों का ज्ञान प्राप्त कर लिया और उन्हीं के अनुसार वह सुचारुरूप से गृहस्थी का विधान करने लगी। उसने आते ही सुशीला को एकान्त विश्राम का अवसर दे दिया और गृहस्थी की सारी चिन्ता का भार अपने सिर पर ओढ़कर उसने अपनी प्यारी सहोदरा को पूर्ण रूप से निश्चिन्त कर दिया।

गुणसुन्दरी बाल-विधवा है। वह अपने पति के पर्य्यंक पर केवल एक बार ही पौढ़ी थी और उसके उपरान्त ही, आज ४ वर्ष हुए, उसका सौभाग्य-सिन्दूर दुर्भाग्य के कठोर विधान से पुँछ गया। तब से गुणसुन्दरी अपने पिता के ही घर पर रहती है। उसके पिता प्रकाण्ड विद्वान् हैं और उन्होंने भली-भाँति यह जान लिया था कि विधवा गुणसुन्दरी के तपोमय जीवन की मृदुल

अवाधगति के लिये यह अनिवार्य्य रूप से आवश्यक है, कि उसे ज्ञान,विवेक और आत्मानुभूति का पवित्र साहचर्य्य प्राप्त हो जाय। इसीलिये उन्होने स्वयं गुणसुन्दरी को संस्कृत तथा अन्य देशी भाषाओं की ऊँची शिक्षा दी थी। वाल्मीकि-रामायण और महा-भारत के प्रसिद्ध श्लोक की वह दस-दस बार आवृति कर चुकी थी। कला-कौशल तथा गृह-प्रबन्ध की उसे पर्य्याप्त शिक्षा विवाह से पहले ही मिल चुकी थी; इसीलिये गुणसुन्दरी केवल अतुलनीया सुन्दरी ही नहीं थी, वह अद्वितीया गुणवती विदुषी भी थी।

सत्येन्द्र के घर में आते ही उसने गृहस्थी का सुचारु प्रबन्ध करना प्रारम्भ कर दिया। माधुर्य्य और आनन्द की नदी-सी उस घर में प्रवाहित होने लगी। प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में उठकर वह नित्य कर्मादि से निवृत्त हो जाती और उसके उपरान्त वह गृह-संलग्न उद्यान से सुमन चयन करके लाती तथा चन्दन,नैवेद्य इत्यादि प्रस्तुत करके वह सत्येन्द्र के स्नानादि से निवृत्त होते-न-होते उनकी पूजा की मधुर व्यवस्था कर देती। अपने हाथ ही से वह सुस्वादु भोजन बनाती और बड़े प्रेम से अपनी बहिन और जीजाजी को जिमाती। सत्येन्द्र के कालिज चले जाने पर उनके पठन-कक्ष को साफ़ करके वह उनकी पुस्तकों को सुंदर प्रकार से सजा देती। सायंकाल को अपने हाथ से सुगंधित फूलों के सुरम्य गुलदस्ते बनाकर वह उनके टेबुल पर लगा देती। इस प्रकार गुणवती गुणसुन्दरी ने सत्येन्द्र को सुशीला की प्रेममयी सेवा एवं श्रद्धा-मयी सुश्रूषा का अभाव कणभर भी अनुभव नहीं करने दिया। सत्येन्द्र

भी गुणसुन्दरी को स्नेहमयी श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे—उसके गुणों का ऐसा विकास देखकर वे बड़े सन्तुष्ट हुए।

परिजन ही के प्रति नहीं—परिचारिकाओं के प्रति भी गुणसुन्दरी का ऐसा स्नेहमय व्यवहार था, कि वे भी उसे पाकर बड़ी प्रसन्न हुईं और उस पर बहन की भाँति प्रेम करने लगीं। ऐसी सुन्दरी गुणवती स्वामिनी की सेवा को वे अपना सौभाग्य समझने लगीं।

गुणसुन्दरी अपूर्व रूप-राशि की स्वामिनी थी अवश्य; पर उसने इस यौवन-वन को यों ही छोड़ दिया था। शृंगार के नाम से उसके कोमल शरीर पर एक भी आभूषण नहीं था। उसके हिम-शुभ्र ललाट पर न तो कृष्ण बिन्दु सुशोभित होता था और न उसके सहज-अरुण अधर पर ताम्बूल-राग ही विलसित होता था। उसकी उस देह माधुरी को न तो चित्राम्बर ही आच्छादित करता था और न उसकी कुन्तल केश राशि पर पुष्पहार ही सुगन्ध का विस्तार करता था। वह पहनती थी केवल एक स्वच्छ शुभ्र सारी और उसके उन्नत पुण्य पीन-पयोधर आच्छादित होते थे एक खद्दर की जाकट द्वारा। बस यही उसकी वैराग्यमयी वेष-भूषा थी, यही उसकी संन्यासमयी शोभा थी और यही उसकी पवित्र तपोमयी माधुरी थी। वह निष्कलंक आत्म-प्रभा की भाँति, निर्विकार तपोमयी साधना की भाँति एवं तेजोमयी पुण्य-पवित्रता की भाँति प्रतीत होती थी। विधवा के संन्यास अर्थात् निष्काम कर्म योगमय जीवन का सम्पूर्ण रहस्य उसके आन्तरिक लोचनों के

सम्मुख विवृत हो चुका था और उसने पिता की पुण्यमयी शिक्षा के पावन प्रभाव से यह जान लिया था कि इस वैधव्य के दुःखमय जीवन को पवित्र एवं अबाध मृदुल गति से व्यतीत करने का एक मात्र उपाय निःस्वार्थ सेवामयी साधना है। गुणसुन्दरी सदा, निर्विकार हृदय से, निस्स्वार्थ बुद्धि से एवं निष्काम कामना से इसी साधना के अनुष्ठान में तन्मयी होकर रत रहती।

सेवा और साधना—दोनों सहोदरा हैं और उनकी जननी है पुण्य-प्रवृत्ति।

(३)

श्रावण-शुक्ला-त्रयोदशी के प्रातःकाल शुभ ब्राह्म-मुहूर्त में सुशीला ने पुत्र-रत्न प्रसव किया। सत्येन्द्र एवं सुशीला के आनन्द की बात जाने दीजिये, उनके सारा घर-का-घर आनन्द की मन्दाकिनी से प्लावित होने लगा। गुणसुन्दरी अपनी माता के घर ही से एक सुवर्ण की कण्ठमाला बनवा लाई थी जिसमें मध्यमणि के स्थान पर एक सुवर्ण मण्डित रुद्राक्ष था। उसने अपने पवित्र आशीर्वाद के साथ उसे नवजात शिशु के गले में रक्षा-कवच के रूप में पहना दिया। उस दिन सत्येन्द्र और सुशीला ने देखा कि गुणसुन्दरी के मुख पर एक अपूर्व उल्लास है, एक परम पवित्र तेज है। उस दिन गुणसुंन्दरी का गम्भीर प्रशान्त हृदय-सागर भी चन्द्र-दर्शन को पाकर आनन्दातिरेक से उद्वेलित होने लगा।

गुणसुन्दरी स्वभावतः ही गम्भीर प्रकृति की थी। रस-रंग, हास, परिहास पर उसका विशेष अनुराग नहीं था; पर सुशीला के

उस परम आनन्द में योग देने के कारण उसका वह गम्भीर भाव अनेकांश में तिरोहित हो गया था और उसके मुख-मण्डल की शोभा आन्तरिक आनन्द की श्री से और भी मनोहर एवं प्रभा-मयी हो गई थी। सत्येन्द्र गुणसुन्दरी के गुणों पर मुग्ध थे ही और जैसा हमने पहले कहा है, वे उस पर विशेष रूप से स्नेहमयी श्रद्धा रखते थे। पर उस आनन्द से प्रफुल्ल वदन-कमल की जो अपूर्व शोभा उन्होंने उस आनन्द-अवसर पर देखी वह कुछ और ही प्रकार की थी, उसमें कोई और ही प्रकार का निरालापन था। उसे देखते ही उनके हृदय में एक और ही प्रकार की प्रवृत्ति जागृत हो उठी। अभी तक उनका जो स्नेह श्रद्धा के पवित्र शीतल सलिल से सिञ्चित होता था, वह अब दूसरी ही प्रकार के प्रवृत्ति-प्रवाह में अवगाहन करने लगा। वात्सल्य शृङ्गार में परिणत हो गया।

तब तो सत्येन्द्र एक प्रकार से व्याकुल हो उठे। वे विद्वान थे, पण्डित थे और अब तक उनका जीवन सदाचार ही के साहचर्य्य में व्यतीत हुआ था। उन्होंने इस प्रवृत्ति को दबाने की चेष्टा की; पर वह उनसे दबी नहीं। वे गुणसुन्दरी को बार-बार देखने के लिये आकुल हो उठते और निरर्थक ही उसे अपने कमरे में किन्हीं कामों के बहाने बुलाकर रात-दिन में वे उसका दस-पाँच बार दर्शन कर लेते; पर इससे उन्हें शांति मिलना तो दूर, उनकी लालसा और भी तीव्र होती जाती। इधर सुशीला प्रसूतिकागार में थी और इसलिये गुणसुन्दरी को उनके कमरे में किसी-न-किसी काम के

लिये कई-कई बार आना ही पड़ता था। सुशीला की निरन्तर अनुपस्थिति से अनुचित लाभ उठाकर सत्येन्द्र की मोहमयी प्रकृति और भी प्रबल वेग से प्रधावमान होने लगी।

आज नवजात-शिशु के शुभ नामकरण-संस्कार का आनन्द-दिन है। दिन-भर गुणसुन्दरी अभ्यागतों की अभ्यर्थना में लगी रही और उसने स्वयं दिन-भर बिना खाये-पीये सबको खिलाया पिलाया। गुणसुन्दरी उस उत्सव में अपने अस्तित्व तक को भूल गई।

रात्रि के लगभग आठ बजे गुणसुन्दरी अपने जीजा सत्येन्द्र के लिये भोजन लेकर उनके कमरे में गई। सत्येन्द्र उस समय कोई साहित्य की पुस्तक पढ़ रहे थे और उसमें वर्णित नायिका के सुन्दर स्वरूप की कल्पना को गुणसुन्दरी में आरोपित करने की धुन में लगे हुए थे। ऐसे ही समय गुणसुन्दरी ने भोजन की थाली लिये हुए उनके कमरे में प्रवेश किया। सत्येन्द्र एकटक गुणसुन्दरी के मुख-चन्द्र की ओर देखने लगे। उस समय सहसा उनके मुख की आकृति कुछ बड़ी विलक्षण-सी हो गई। उनकी आँखें फैल गईं; मुख-विवर खुल गया, दन्त-पंक्ति कुछ बाहर निकल आई और उनकी चेष्टा ठीक वैसी ही हो गई, जैसी किसी मूर्ख की उस समय हो जाती है, जब वह अपनी दृष्टि में कोई बड़ी विलक्षण वस्तु देखता है। गुणसुन्दरी को जीजा का यह आश्चर्य-भाव कुछ ऐसी कुतूहलता से भरा हुआ प्रतीत हुआ, कि सहसा उसके स्निग्ध मृदुल अधर पर मन्द मुस्कान आ गई। उसने नीची दृष्टि कर ली

और भोजन की थाली टेबुल पर रखकर वह बिना कुछ कहे-सुने शीघ्र ही कमरे से बाहर चली गई ।

सत्येन्द्र को उस रात में क्षणभर के लिये भी नींद नहीं आई। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, कि मानो उनके हृदय में, उनकी बुद्धि में, उनकी आँखों में, उनकी विवेक-दृष्टि में, वह मधुर मन्द मुस्कान सजीव स्थिर दामिनी की भाँति प्रवेश कर गई ।

यह एकान्त सत्य है, कि रूपवती रमणी की मधुर मन्द मुस्कान बड़े-बड़े ज्ञानी और पण्डितों को भी परम मूर्खों की भाँति उद्भ्रान्ति की गम्भीर अन्धकारमयी गुफा में गिरा देती है ।

(४)

धीरे-धीरे ब्राह्म-मुहूर्त आ पहुँचा । मन्द-मन्द शीतल समीर प्रवाहित होने लगी । नक्षत्रावली रात्रि-भर के विहार के उपरान्त परिश्रान्त होकर अपने-अपने प्रासाद में प्रवेश करने लगी । सत्येन्द्र भी अपने कमरे से निकलकर गृह-संलग्न उद्यान में जाकर घूमने लगे । उस समय उद्यान में अनेक प्रकार के प्रस्फुटित पुष्पों की सुगन्ध परिव्याप्त हो रही थी और शीतल समीर का संयोग पाकर वह इधर-उधर इठलाती फिरती थी। उसके अञ्चल के सुशीतल स्पर्श से सत्येन्द्र का उत्तम मस्तिष्क कुछ-न-कुछ शान्त हो गया।

वे इधर-उधर गूमने लगे। वे अपनी उद्भ्रान्त विचारमाला में तल्लीन थे। गुणसुन्दरी की उस मधुर मन्द मुस्कान की मूक कविता का अर्थ तथा भाष्य करने में वे ध्यानावस्थित-से हो रहे थे । कभी वे सोचते थे, कि वह मुस्कान क्रमशः परिवर्द्धित होनेवाली प्रेम-

प्रवृत्ति की प्रथम झलक थी और कभी उनका यह विचार स्थिर होता, कि वह मुस्कान उनकी प्रेम-भिक्षा के प्रति उपहासमयी उपेक्षा की प्रथम किरण थी। कभी वे सोचते, कि गुणसुन्दरी ने उस मधुर मुस्कान के द्वारा उनके प्रेम का अभिनन्दन किया था और कभी उनको यह धारणा होती, कि उस अपूर्व संयमशीला रमणी ने उस मुस्कान के द्वारा उनके इस अनुचित साहस का तिरस्कार किया था। सत्येन्द्र निश्चित रूप से उस रहस्यमयी मुस्कान का अर्थ समझने में कृतकार्य नहीं हो रहे थे। उनकी बुद्धि उद्भ्रान्त हो गई थी और उस उद्भ्रान्ति की संशय-स्वरूपा अग्नि को हृदय में धारण करके वे उस उद्यान में घूम रहे थे।

सहसा उन्हें एक ओर से गाने की ध्वनि सुनाई दी। उन्होंने कण्ठ-स्वर से जान लिया, कि गुणसुन्दरी ही गुनगुना रही है। सत्येन्द्र को यह जानकर और भी हर्ष हुआ, कि गुणसुन्दरी गान-विद्या में भी अधिकार रखती है। हृदय की प्रबल प्रेरणा से परिचालित होकर वे उसी ओर को, धीरे-धीरे उस मधुर गान को सुनते-सुनते अग्रसर होने लगे, ठीक उसी तरह जैसे मृगी वीणा-स्वर में आकृष्ट होकर उसी ओर को, चलने लगती है। गुणसुन्दरी का स्वर ही अभी तक सत्येन्द्र को सुनाई पड़ता था—अब स्पष्ट रूप से गान भी सुनाई पड़ने लगा। गुणसुन्दरी गा रही थी—

रे मन! भूल्यो फिरै जग बीच।
कुसुम कुसुम पै अटकत डोलै,
नीचे लखै नहिं मीच। रे मन०

एक बार फँस निकस न पैहै,
जैसे फँस्यो काई कीच। रे मन०
त्यों 'हृदयेश' सुमिर प्रभु-पद को,
छाँड़ि मदन मद नीच। रे मन०

उषा देवी प्राची दिशा में स्थित होकर इस गान को तन्मयी बनी हुई सुन रही थीं, उन मधुर स्वरों के स्पर्श से कोमल कुसुम रोमाञ्चित हो रहे थे। सत्येन्द्र ने प्रभात काल के उस स्निग्ध प्रकाश में देखा, कि गुणसुन्दरी एक हाथ से डाल पकड़े है और एक हाथ से जुही के कोमल फूल तोड़-तोड़कर नीचे रखी हुई टोकरी में डालती जाती है। वह अपने इस कृत्य में तन्मयी होकर आन्तरिक आनन्द के आवेश में गुनगुना रही है। सत्येन्द्र एकटक से इस छवि-माधुरी को देखने लगे। थोड़ी देर तक इस स्वरूप-सुधा को पान करने के उपरान्त सत्येन्द्र ने मन्द मधुर स्वर में पुकारा— गुणसुन्दरी!

गुणसुन्दरी ने चकित हरिणी की भाँति पीछे फिरकर देखा। उसके हाथ से डाल छुट गई। उसने सलज्ज भाव से प्रत्युत्तर दिया—जीजाजी?

सत्येन्द्र—हाँ! क्या फूल तोड़ रही हो?

गुणसुन्दरी—हाँ! पूजन के लिये फूल चुन रही हूँ।

सत्येन्द्र ने हृदय में साहस भरकर कहा—गुणसुन्दरी! मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ।

गुणसुन्दरी ने चकित भाव से कहा—कहिये!

सत्येन्द्र क्षण-भर के लिए चुप हो गये। फिर बोले—मुख से कहने का साहस नहीं है, मैं लिखकर दूँगा। क्या तुम उसका उत्तर देने की कृपा करोगी?

गुणसुन्दरी ने स्थिर भाव से कहा—जीजाजी! मेरा विश्वास है कि हृदय के जिन भावों को एक दूसरे की समुपस्थिति में मुख की भाषा-द्वारा व्यक्त करने में लज्जा या संकोच मालूम हो, तो उनको लिखकर व्यक्त करना भी अनुचित ही है। उनका हृदय में घुट-घुटकर मरजाना ही मेरी तुच्छ बुद्धि में बहुत अच्छा है।

सत्येन्द्र—ऐसा भी हो सकता है; पर मेरे प्रश्न का क्या उत्तर है?

गुणसुन्दरी—वही, जो मैंने अभी कहा है। वह स्पष्ट है।

इतना कहकर गुणसुन्दरी शीघ्रता-पूर्वक वहाँ से चली गई। सत्येन्द्र और भी उलझन में पड़ गये। गये मुस्कान की परिभाषा करने और रास्ते में दूसरी ही शंका उठ खड़ी हुई।

मानसिक ग्रन्थि का तारतम्य कुछ ऐसा विलक्षण होता है कि उसको जितना ही सुलझाया जाय, वह उतना ही और उलझता जाता है। इसका सबसे उत्तम उपाय है—अग्नि-संस्कार। पर उसका अनुष्ठान उतना ही कठिन है, जितनी की सायुज्य मुक्ति की साधना।

(५)

इस घटना को घटित हुए लगभग एक सप्ताह व्यतीत नहीं होने पाया था कि सुशीला के भाई हेमचन्द्रजी गुणसुन्दरी को बुला ले जाने के लिए आ गये। गुणसुन्दरी विधवा हो जाने के

कारण अपनी वृद्धा माता की और भी स्नेहपात्री हो गई थी। उस वृद्ध वयस में उन्होंने गृहस्थी का सारा भार अपने कन्धों से उतारकर गुणसुन्दरी के सिर पर डाल दिया था। गुणसुन्दरी अपने पिता की गृहस्थी की परिचालिका थी—छोटे-से-छोटे काम से लेकर बड़े-से-बड़े काम का भार उसी पर था। उसका व्यथा-मय जीवन निरन्तर कर्म के अनुष्ठान से बड़ी सरलता से व्यतीत होता जाता था—घर की एकमात्र अधीश्वरी होने के कारण ग्लानि की क्षीण रेखा तक उसके हृदय में उत्पन्न नहीं होने पाती थी। उसकी माता तो एक ओर बैठी भगवती का भजन करती थी। भौजाई इत्यादि गुणसुन्दरी की अधीनता में सुखी ही रहती थीं—उनकी भी चिन्ता कम हो जाती थी। यद्यपि सत्येन्द्र ने बहुत कुछ कहा सुना; पर हेमचन्द्र, गुणसुन्दरी को और थोड़े दिनों के लिए छोड़ जाने पर किसी भाँति भी राजी न हुए। सत्येन्द्र कुछ अप्रसन्न भी हो गये; पर हेमचन्द्र ने बड़ी विनम्र भाषा में उनसे क्षमा माँग ली। उन्होंने कहा कि माताजी की अवस्था वृद्ध है, उनका शरीर बड़ा दुर्बल हो रहा है, गृहस्थी के झँझट उनसे सँभाले सँभलते नहीं, इधर उनकी आँखों में परवाल हो गये हैं, मेरी स्त्री भी वहाँ नहीं है, मैके में है, उसकी भौजाई के लड़का इत्यादि होनेवाला है; अतः वह भी नहीं आ सकती; इसीलिये माता ने आपसे अनुरोध किया है कि आप गुणसुन्दरी को और अधिक न रोकें। तब क्या करें? सत्येन्द्र विवश थे। उनके हृदय में एक तुमुल संग्राम हो रहा था—उनके मस्तिष्क में एक प्रबल अग्नि हाहाकर कर रही

थी। वे रोक नहीं सकते थे—उनके देखते-देखते ही उनकी हृदय-रत्न-राशि को दूसरा लिये जा रहा था। सत्येन्द्र बड़े आकुल हो गये ; पर उपायान्तर था ही नहीं—क्या करते ?

दूसरे दिन ५ बजे सायंकाल की गाड़ी से गुणसुन्दरी का जाना निश्चित हो गया। सुशीला भी क्या करती ? उसने भी एकाध बार गुणसुन्दरी को छोड़ जाने के लिये हेमचन्द्र से अनुरोध किया ; पर हेमचन्द्र की उक्ति के सन्मुख उसे भी विवश होकर अन्ततः स्वीकृति देनी ही पड़ी।

इन २४ घण्टों के भीतर सत्येन्द्र ने सहस्रों बार यह चेष्टा की कि गुणसुन्दरी से एकान्त में मिलने का अवसर प्राप्त करें ; पर वे बार-बार विफल-प्रयास हुए। गुणसुन्दरी उनकी दृष्टि के सम्मुख कई बार पड़ी, कई बार उन्होंने आँखों-आँखों में उससे अपने कमरे में आने के लिए आकुल अनुरोध किया ; पर गुणसुन्दरी ने देखकर भी नहीं देखा। उस दिन उसने हेमचन्द्र और सत्येन्द्र को भोजन भी साथ ही साथ कराया। सत्येन्द्र को एकान्त-मिलन का अवसर दिया ही नहीं। अन्त में वह समय आ पहुँचा, जब उनकी प्राण-प्रतिमा उनके घर और हृदय को अन्धकार-मय बनाकर जाने के लिए प्रस्तुत हुई। और चलते समय भी उसका इतना निष्ठुर भाव था कि उसने एक बार भी उनकी ओर आँख उठाकर नहीं देखा। सत्येन्द्र बड़े ही दुखित, आकुल और क्षुभित हो गये। अश्रु-विसर्जन के साथ सुशीला ने गुणसुन्दरी और हेमचन्द्र को विदा किया ; गुणसुन्दरी ने चलते समय शिशु का मुख चूमा

और आँखों में आँसू भरकर उसने बड़ी बहन को प्रणाम किया। सत्येन्द्र उन दोनों को पहुँचाने के लिए साथ-साथ स्टेशन तक गये। स्टेशन पर पहुँचते-पहुँचते गाड़ी आ गाई और एक सेकण्ड क्लास में हेमचन्द्र गुणसुन्दरी के साथ बैठ गये। सत्येन्द्र प्लेटफार्म पर खड़े-खड़े उस रूप-राशि को देखने लगे। गुणसुन्दरी के उस निष्ठुर आचरण ने उनके हृदय में बड़ी वेदना उत्पन्न कर दी थी। उसी समय जब ट्रेन चलने में ३-४ मिनट शेष थे, गुणसुन्दरी ने अपने मुखावरण को हटाकर कोमल स्वर में पुकारा—जीजाजी!

सत्येन्द्र ने कम्पित कण्ठ से कहा—हाँ।

गुणसुन्दरी—कृपा करके बहन के साथ दुर्गापूजा की छुट्टी में अवश्य पधारियेगा। जब मैं आई थी, तब माताजी ने मुझसे कह दिया था कि मैं आप से इस विषय में अनुरोध-पूर्वक उनकी आज्ञा कह दूँ। नवजात शिशु और बहन को देखने के लिए उनका बहुत मन है।

सत्येन्द्र ने दर्द-भरी हँसी के साथ व्यंग्य-पूर्वक कहा—पर तुम्हें इस अनुरोध का स्मरण बड़े बिलम्ब से हुआ।

गुणसुन्दरी—हाँ! काम में लगी रहने से मैं भूल-सी गई थी। मुझे आशा है कि आप अपनी छोटी समझ कर मेरे इस अपराध को क्षमा करेंगे।

सत्येन्द्र—कह नहीं सकता, हो सका तो आऊँगा।

गुणसुन्दरी—हो सका नहीं, आपको आना ही पड़ेगा।

सत्येन्द्र—क्यों?

गुणसुन्दरी—आपको मेरे अनुरोध की रक्षा करनी चाहिये। आप अवश्य आइयेगा। आपको मेरी शपथ है!

सत्येन्द्र—अच्छा आऊँगा।

गाड़ी चल दी। हृदय थामकर सत्येन्द्र घर लौट आये।

सत्येन्द्र ने देखा कि घर जैसे प्राण-शून्य हो गया है। सबके होते हुए भी वह माधुर्य अन्तर्हित हो गया।

इसीलिये यह सम्पूर्ण सत्य है कि आलम्बन के बिना उद्दीपन केवल शव का मण्डन-मात्र है।

(६)

बड़े दुःखित एवं व्यथित होकर सत्येन्द्र घर लौटे थे। यद्यपि गुणसुन्दरी के उस निष्ठुर भाव ने उनके हृदय को बड़ी ही वेदना पहुँचाई थी; पर उसकी चलते समय की शपथ ने उनके उस काल्पनिक तिरस्कार की मात्रा को अधिकांश में दूर कर दिया था। सत्येन्द्र सुशीला से बिना मिले ही अपने कमरे में चले गये और जल्दी-जल्दी कपड़े उतारकर वह बड़े अन्यमनस्क भाव से एक आराम-कुर्सी पर लेट गये। उनके हृदय-श्मशान में, उनकी अभिलाषा की चिता के आलोक में, प्रेतात्माओं की भाँति प्रवृत्ति-पुञ्ज हाहाकार कर रहा था और उनके मस्तिष्क में विरोधी भावों की सेना तुमुल-संग्राम में प्रवृत्त हो रही थी। सत्येन्द्र बड़े आकुल, बड़े उद्विग्न, एवं बड़े संतप्त हो रहे थे।

रात्रि का अन्धकार क्रमशः प्रगाढ़ हो रहा था। उसी समय उनकी परिचारिका ने उनके कमरे में प्रवेश किया और उसने आते

ही उनके हाथ में एक बन्द लिफ़ाफ़ा दे दिया। वह बिना कुछ कहे-सुने चली गई—सत्येन्द्र ने भी उससे कुछ नहीं पूछा।

सत्येन्द्र ने काँपते हुए हाथों से पत्र खोला। बड़े उत्सुक भाव से वे उसे पढ़ने लगे। पत्र की प्रतिलिपि इस भाँति है—

'पूज्य जीजाजी—श्री चरणों में प्रणाम !

न माना आपने। पत्र लिख ही तो डाला। ज्यों ही इसी नौकरानी ने मुझे आपका पत्र दिया, त्योंही क्रोध, क्षोभ एवं ग्लानि से मेरी बुरी दशा हो गई। पत्र खोलने से पहले ही मैंने भाई हेमचन्द्र को, मुझे बुला ले जाने के लिये पत्र लिख दिया।

एक बार मेरे मन में आया कि मैं आपका पत्र बिना खोले ही सुशीला बहन को दे दूँ और इस प्रकार मैं दाम्पत्य-दण्ड-विधि के अनुसार आपको गार्हस्थ-न्यायालय से विश्वास-घात का समुचित दण्ड दिलाऊँ; पर मेरी आत्मा ने मुझे ऐसा करने की आज्ञा नहीं दी। मैंने सोचा कि सम्भव है, इसके कारण आप में और मेरी बहन में मन-मुटाव हो जाय और उसका दुःखमय परिणाम उस निर्दोष सरल बहन को भुगतना पड़े; पर मुझे दुःख है कि आप पण्डित, विद्वान् एवं आचार्य होकर भी इस घृणित कृत्य की ओर प्रवृत्त होने में कण-मात्र भी कुण्ठित एवं लज्जित न हुए। छिः !

कदाचित् आपने यह सोचा होगा, कि एक तो वह मेरी साली है और उस पर भी है—बाल-विधवा। उसे भ्रष्ट करने का मेरा अधिकार है और उसमें सफल होना भी बड़ा सरल है; पर आपने इतने बड़े विद्वान् होकर भी यह नहीं सोचा कि संसार-भर की

साली और बाल-विधवाएँ सभी मदन-देव की उपासिका नहीं होती हैं और न काम-प्रवृत्ति का उन पर इतना प्रबल अधिकार ही होता है कि वह प्रत्येक भगिनी-पति एवं परपुरुष को आलिङ्गन करने के लिये इतनी उद्विग्न हो उठें कि वे उस प्रबल प्रवाह में अपने धर्म, विवेक एवं सर्वश्रेष्ठ सतीत्व को नगण्य वस्तु की भाँति बह जाने दें। जीजाजी! हम बाल-विधवा हैं—हमारा जीवन कर्म-संन्यास का प्रोज्ज्वल उदाहरण है—सबकी बात जाने दीजिये अपवाद कौन से नियम में नहीं है—पर अब भी हमारी जाति पुण्यशीलाओं से एकान्त रूप में खाली नहीं हो गई है—अब भी हम गर्व करती हैं कि हम उन्हीं आदि सती की प्रतिनिधि हैं। हम वैधव्य के कठोर कारागार में साधना की कठोर शृङ्खला से सर्व-विजयी मदन-देव को जकड़कर हृदय के एक अन्धकारमय निभृत कोण में डाल देती हैं। जीजाजी! आप चाहे कुछ हों—चाहे बृहस्पति के साक्षात् अवतार ही क्यों न हों; पर रमणी-हृदय का रहस्य आप नहीं जान सकेंगे। छिः, आप बड़े निर्लज्ज हैं!

मुझे जहाँ तक स्मरण है, मैंने आपके सम्मुख ऐसा कोई आचरण नहीं किया, जिससे आपको ऐसा घृणित पत्र लिखने का साहस हुआ हो। हाँ! एक बार अवश्य आपको देखकर मुझे मुस्कराहट आ गई थी। उससे आपने कदाचित् यही अभिप्राय निकाला (सुना है आप तर्क-शास्त्र के भी पण्डित हैं) कि गुण-सुन्दरी मेरे इस जवाकुसुम-सुगन्धित चारु केश-विन्यास पर, मेरी इस सुन्दर मुख-श्री पर, एवं मेरे इस सिल्क-सूट-शोभित

शरीर पर मुग्ध होकर, आनन्द से, कामासक्त होकर मुस्करा रही है। पर आपकी यह भूल थी। वास्तव में उस दिन आपने मेरी ओर कुछ ऐसे विलक्षण भाव से देखा था—आपके नेत्र विस्फारित, आपका मुख विवृत, आपकी आकृति विकृत एवं आपकी चेष्टा कुतूहलमयी थी—मुझे सहसा मुस्कराहट आ गई। सच मानिये, मैंने उस दिन आपके मुख पर मूर्खत्व का प्रोज्ज्वल नृत्य देखा था—बस इसीलिए मैं मुस्करा पड़ी और पण्डित-प्रवर साहित्याचार्य श्रीमान् प्रोफेसर सत्येन्द्र एम० ए०, पी० एच० डी० महाशय ने उसका जो अर्थ लगाया उससे उनकी मिट्टी पलीत हुई सो तो हुई, मुझ निरपराधिनी को भी व्यर्थ में आत्मग्लानि सहनी पड़ी।

जीजाजी! आपने अपनी सरल सती स्त्री के प्रति विश्वासघात किया है। आपको इसका प्रायश्चित्त करना चाहिये और अपने इस महा कुत्सित आचरण के लिये उस पुण्यमयी देवी से क्षमा माँगनी चाहिए। इसी में आपका कल्याण है।

जीजाजी! रमणी पुष्प की भाँति मधुर, रत्न की भाँति प्रभामयी, प्रभात-तुषार-कण की भाँति पवित्र, आत्मा की भाँति प्रकाशमयी, साधना की भाँति तपोमयी एवं भगवती शक्ति की भाँति पुण्यमयी है; अतः आपको अपने कल्याण के लिये इस बात का ध्यान रखना परम आवश्यक है कि आप उसके हृदय-सागर को अपने घृणित आचरण से उद्वेलित न करें; क्योंकि उसके अन्तर में ऐसी वड़वाग्नि निहित है, जिसमें अपनी समस्त सृष्टि के समेत स्वयं भगवान् तक भस्मावशेष हो सकते हैं।

जीजाजी, मैं आपकी छोटी हूँ। यदि आपके प्रति मैंने कुछ अनुचित व्यवहार कर दिया हो, या मुझसे प्रमाद-वश कोई अपराध बन पड़ा हो, तो उसे आप अपने उदार हृदय से क्षमा करने की कृपा करें। साथ-साथ मेरी यह भी विनय है कि इस घटना से उत्पन्न होनेवाली ग्लानि और वेदना को सतत साधना की सुर-सरिता में प्रवाहित कर देने की सदा चेष्टा कीजियेगा।

दुर्गा-पूजा के अवसर पर प्यारी बहन के साथ अवश्य ही दर्शन देने की कृपा कीजियेगा।

आपकी वात्सल्य-पात्री—

गुणसुन्दरी'

'पुनश्च—इस पत्र के साथ आपका पत्र भी लौटा रही हूँ। सच मानियेगा, मैंने आपका पत्र अच्छी तरह पढ़ा भी नहीं है। ऊपर ही की दो-चार लाइनें पढ़कर मैं समझ गई कि उसमें कैसे-कैसे भ्रष्ट विचार ग्रथित किये गये होंगे।'

पत्र को समाप्त करते ही सत्येन्द्र का वह मोहावरण, जो लालसा ने उनकी विशुद्ध विवेक-दृष्टि के सम्मुख डाल दिया था, हट गया। उन्होंने आत्म-प्रकाश में देखा कि वह उनका आचरण कितना नीच, कितना हेय एवं कितना कुत्सित है। आत्मग्लानि की प्रबल अग्नि धधक उठी और उनका सारा हृदय उसमें धक-धक करके जलने लगा।

आध्यात्मिक मूर्छा का नाम मोह है।

• • •

लगभग २० मिनट के उपरान्त सुशीला ने अपने नव-जात शिशु को गोद में लिये प्रवेश किया। आते ही उसने शिशु को सत्येन्द्र की गोद में दिया और आप पास ही पड़ी हुई कुर्सी पर बैठ गई। सत्येन्द्र ने शिशु को गोद में ले तो लिया; पर उनके मुख पर नित्य की-सी प्रफुल्लिता नहीं दिखाई दी। उनके हृदय में ग्लानि, पश्चात्ताप और वेदना की भीषण अग्नित्रयी धाँय-धाँय करके जल रही थी और उसकी व्यथा के लक्षण उनके शुष्क मुख-कमल पर सुस्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रहे थे। सुशीला के स्नेहमय सरस लोचनों से यह भाव छिपा नहीं रह सका और उसने बड़े आकुल भाव से सत्येन्द्र का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—नाथ! आज आप इतने व्यथित क्यों हैं?

सत्येन्द्र—प्यारी मैंने एक घोर पाप किया है और उसीकी वेदना से मेरा हृदय जल रहा है।

सुशीला—पाप! आप और पाप? असम्भव! मैं इस बात पर विश्वास करने को प्रस्तुत नहीं हूँ।

सत्येन्द्र—तुम सरल एवं एकान्त पवित्र हो; इसीलिये तुम ऐसा समझती हो। मैंने तुम्हारे प्रति विश्वास-घात किया है और मैं तुम्हारी क्षमा का भिखारी हूँ।

सुशीला—यह उल्टी बात कैसे देव? प्रभु होकर दासी से क्षमा-याचना? मुझे आपको क्षमा करने का क्या अधिकार है? मेरे प्रति यदि आप कोई अपराध भी करें, तो भी वह पाप नहीं, आपका अधिकार है।

सत्येन्द्र—सो बात नहीं है प्रिये ! पाप सदा पाप है। पाप करने का किसी को भी अधिकार नहीं है। मैं सच कहता हूँ—स्वयं भगवती राजराजेश्वरी कल्याणसुन्दरी साक्षी हैं—कि जब तक तुम मुझे अपने हृदय से क्षमा नहीं कर दोगी, तब तक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ; क्योंकि तब तक मुँह खोलकर मैं अपने पाप को कहने का साहस ही नहीं कर सकूँगा। क्षमा ! प्यारी क्षमा !

सुशीला ने साश्रुलोचना होकर कहा—नाथ ! यदि मेरे ऐसा कहने ही से आपके हृदय को शान्ति मिल सकती है, तो मैं आपको क्षमा करती हूँ ; पर मैं यह शब्द केवल आपके एकान्त अनुरोध से कह रही हूँ, नहीं तो मेरा निज का विचार है कि आप मेरे लिये सदा निष्पाप हैं। पाप आपके स्पर्शमात्र से पुण्य में परिणत हो सकता है, आप मेरे ईश्वर हैं।

सत्येन्द्र ने सजल नेत्र हो कर दोनों पत्र सुशीला के हाथ में दे दिये। सुशीला उन्हें बड़े मनोयोग-पूर्वक पढ़ने लगी। साद्यान्त पढ़ चुकने पर उसके मुख पर मन्द, मधुर मुस्कान दिखाई दी। सत्येन्द्र के गले में बड़े प्रेम से हाथ डालकर उसने कहा—बस इतनी ही सी बात के लिए आपने आकाश-पाताल एक कर दिया था ? सत्येन्द्र के लोचन-युगल से अश्रुधारा पतित होने लगी। सुशीला ने अपने अञ्चल से उनके आँसू पोंछ डाले और फिर उसने हार्मोनियम उठाकर इस चरण को बार-बार मधुर स्वर में गाना आरम्भ कर दिया—

'सूरदास प्रभु वे अति खोटे, वह उनहू ते अति ही खोटी।
तुम जानत राधा है छोटी।'

सत्येन्द्र भी इस बार मुस्करा दिये।

सती का सहज-सुन्दर स्नेह सुर-सरिता की स्वच्छ धारा से भी अधिक विमल, शीतल एवं पवित्र है।

(७)

सुशीला की विमल आमोद-लहरी के शीतल प्रवाह ने सत्येन्द्र के हृदय की वेदना एवं ग्लानि को अधिकांश में प्रशमित कर दिया था; पर अब भी कभी-कभी उनकी भस्म में से एकाध स्फुलिङ्ग चमक उठती है। उसे भी शान्ति करने के लिए सत्येन्द्र सुशीला के समेत दुर्गापूजा की छुट्टी में उनके मायके को गये। बड़े आदर-सत्कार से गुणसुन्दरी तथा उसके माता-पिता और भाई ने उनका स्वागत किया। गुणसुन्दरी शिशु को पाकर हर्ष से खिल उठी।

उसके दूसरे दिन की बात है। प्रभात-काल का मनोरम प्रकाश धीरे-धीरे फैल रहा था—रजनी का अन्धकार क्रमशः पुष्पाभरण-भूषिता उषा देवी के पद-नख की आभा में विलीन होता जा रहा था। गुणसुन्दरी उस समय घर से सटे हुए बाग में पूजा के लिये फूल चुन रही थी। इसी समय, इसी भाव में, इसी दशा में, एक दिन और सत्येन्द्र ने गुणसुन्दरी को देखा था। सत्येन्द्र ने पीछे से बड़े मृदुल स्वर में पुकारा—गुणसुन्दरी!

गुणसुन्दरी ने भी उसी प्रकार चकित भाव से पीछे मुड़कर देखा और कहा—जीजाजी! कहिये चित्त तो प्रसन्न है?

सत्येन्द्र—दया है जगज्जननी की, मैं आज तुमसे क्षमा माँगने आया हूँ। तुम्हारे पत्र को पढ़कर मेरा मोह अन्तर्हित हो गया था और उस समय मुझे अपना वह व्यवहार बड़ा कुत्सित प्रतीत हुआ। मैंने उसके लिये प्रायश्चित किया है—अब मैं पवित्र होकर आया हूँ। देवि ! मुझे क्षमा करो।

गुणसुन्दरी—जीजाजी ! आपको मुझसे नहीं, मेरी बहन से क्षमा माँगनी चाहिये। मेरी तो आप कुछ हानि कर ही नहीं सके—हाँ ! अपनी स्त्री के प्रति आपने अवश्य विश्वास-घात किया है।

सत्येन्द्र—उस सती ने मुझे क्षमा कर दिया है। गुणसुन्दरी ! वास्तव में हम लोग बड़े मूर्ख हैं। रमणी के भावों का, रमणी की चेष्टाओं का रहस्य जानना सहज नहीं, बड़ा दुष्कर है। कारण कि उसमें उद्भ्रान्त कर देने की सामर्थ्य है ; नहीं तो अधिकांश में रमणी का हृदय और मुख सरल भाव से ही उद्दीप्त रहता है। तुम्हारी उस मन्द मुस्कान ने मुझे उद्भ्रान्त कर दिया था—उसके रहस्य-भेद से असमर्थ होकर ही मैंने कैसा पाप करने का साहस किया था। देवि ! अब मैं अपने अपराध के लिये तुमसे क्षमा माँगता हूँ।

गुणसुन्दरी—जीजाजी ! आप कैसी बातें कह रहे हैं। मैं आपकी छोटी हूँ—आप मेरे बड़े हैं। मैं क्या आपको क्षमा करने के योग्य हूँ।

सत्येन्द्र ने हाथ जोड़कर घुटने टेक दिये, वे बड़े भक्ति-भरित स्वर में बोले—बयस से कुछ नहीं होता है। तुम महामाया की

प्रतिनिधि हो। जब तक तुम मुझे क्षमा नहीं करोगी, तब तक मैं यहाँ से नहीं उठूँगा।

गुणसुन्दरी के सहज-अरुण कपोल लज्जा से और भी गुलाबी हो गये। उसके अधर पर लज्जामयी मन्द मुस्कान नृत्य करने लगी—उसके ललाट पर प्रस्वेद के दो बिन्दु चमकने लगे—उसने सलज्ज भाव से कहा—उठिये जीजाजी ! मुझे बड़ी लज्जा मालूम हो रही है। मैं नहीं जानती थी, कि आप नाट्य-कला में भी इतने प्रवीण हैं। यदि आपको इसी में सन्तोष है, तो उठिये, मैं आपको क्षमा करती हूँ। उठिये ! जल्द उठिये जीजाजी ! मुझे बड़ी लज्जा मालूम हो रही है। दया करके शीघ्र उठिये।

ठीक उसी समय सुशीला ने एक ओर बड़े कोमल, मधुर, स्वर में यह पद गाते हुए प्रवेश किया—

'देख्यो सखी वह कुञ्ज कुटी तट ;
बैठ्यो पलोटत राधिका पाँयन।'

सुशीला का मुख-मण्डल जिस प्रफुल्ल मन्द मुस्कान से विलसित हो रहा था, वह और भी मधुर रहस्यमयी एवं पवित्र अर्थमयी थी।

६—श्रीराजेश्वरप्रसादसिंह

आप प्रयाग के रहनेवाले हैं। पहले आप 'लीडर' के कार्यालय में काम करते थे। अब स्वतंत्र रूप से साहित्य-सेवा करते हैं। आपकी कहानियाँ समाज की दुर्बलताओं पर आधारित होती हैं। आपकी शैली में दार्शनिक विचारों का अच्छा सम्मिश्रण होता है। आप अंग्रेजी में भी लिखते हैं और बहुत अच्छा लिखते हैं।

उमा
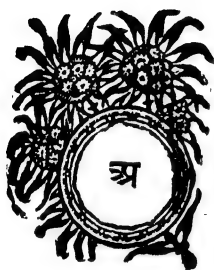
न्त में उमा की आँखें खुलीं। स्वार्थ पर चढ़ा हुआ प्रेम का रङ्ग उड़ गया—क़लई खुल गई। बिहारी का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो गया। विवाह हुए अभी छः मास ही व्यतीत हुए थे; किन्तु इसी थोड़े समय में उसे अपनी भूल ज्ञात होने लगी। न व्यावहारिक प्रेम की कमी थी, न मौखिक; परन्तु यह दाम्पत्य जीवन का सुखद प्रेम न था; नाट्य-मञ्च का करुण-अभिनय था—नीरस, शुष्क। विवाह होने से पहले भी यही दशा थी। दोनों अपना-अपना पार्ट जी लगाकर खेलते थे। अभिनय वही था, वही हास-परिहास, वही आमोद-प्रमोद, वही प्रेम-रस में सनी हुई बातें; किन्तु उसमें और इसमें महान् अन्तर था। उसमें प्रेरणा शक्ति थी, इसमें केवल मनोरञ्जन की मात्रा। उसमें निष्काम अनुराग भी था, इसमें केवल स्वार्थ-ही-स्वार्थ। पहले उमा बिहारी से खुलकर मिलती थी; लेकिन अब उसके दिल में भी मैल आ गया था। कृत्रिम प्रेम का अभिप्राय मनोभाव पर परदा डालता था।

उमा दिल-ही-दिल में कुढ़ती और अपने भाग्य को रोती। उसकी इस दुर्दशा का उत्तरदायित्व केवल उसी पर था। उसके पिता पाश्चात्य सभ्यता के उपासक थे, और स्त्री-जाति के जन्म-सिद्धि स्वत्वों के अनुमोदक। वह अपने धनाढ्य पिता की एकलौती बेटी थी। उसकी माता कभी की मर चुकी थी। उसे पूरी आजादी थी, वह जो जी में आता करती, जहाँ चाहती जाती, जिससे चाहती मिलती। उसने बिहारी के साथ अपनी इच्छा से विवाह किया था, पिता की अनुमति केवल नाममात्र को थी। यदि इस भूल का परिणाम केवल उसे ही भुगतना पड़ता, तो कदाचित् इतना दुःख न होता। उसे बड़ा अफ़सोस इस बात का था कि उसने उस व्यक्ति के साथ अन्याय किया, जो सहानुभूति के योग्य था, उसकी अव-हेलना की, जो उसका सच्चा प्रेमी था।

रतन और बिहारी लड़कपन के मित्र थे। दोनों उमा के पड़ोस में रहते थे और उसके यहाँ आया-जाया करते थे। दोनों को उमा से प्रेम था। बिहारी चञ्चल प्रकृति का था, रतन गाम्भीर। बिहारी प्रेम दिखाने के सौ-सौ उपाय करता। रतन दिल की बात कहते हुए भी हिचकता, शरमाता, घबराता। रतन का गाम्भीर्य उसके हक़ में हानिकर सिद्ध हुआ—बिहारी बाजी मार ले गया। उमा की दृष्टि में रतन की गम्भीरता, उसकी शुष्कता और हृदय-हीनता के कारण थी; अतएव रतन यदि कुछ कहना भी चाहता, तो वह उसकी बात काट देती, या सुनती भी तो बे-मन। लेकिन अब उसे पहले की बातों पर पछतावा होता था।

पश्चात्ताप में उदारता होती है। उदारता में आलोचना-शक्ति नहीं होती। उदारता नदी की बाढ़ है, जो हर चीज़ हृदय में छिपा लेती है। उदारता के आवेग में हम दूसरों में उन गुणों का अनुमान करने लगते हैं, जिनके विद्यमान होने, या न होने का हमें निश्चय नहीं होता। उमा को रतन अब देव तुल्य दिखाई देते थे। वह सोचती—कैसा आदर्श जीवन है, कैसा मनोविराग! कैसी सहिष्णुता है, कैसा त्याग! मैंने उनके साथ कैसा अन्याय किया; लेकिन उन्होंने कभी शिकायत नहीं की। कोई और होता, तो यों ठण्डे दिल से न सह लेता। बहुत दिनों से नहीं आये। कहीं बीमार तो नहीं पड़ गये। जाने क्या बात है? पिछली बार जब आये थे, बड़े उदास दिखाई देते थे। मैं इसका कारण जानती हूँ। मैं ही इस उदासी का कारण हूँ, मैं ही इसे दूर करूँगी। इस निश्चय के बाद उमा ने रतन को एक पत्र लिखा और उन्हें डिनर के लिए निमन्त्रित किया।

सायङ्काल का समय था। रतन घूमने जाने के लिए तैयार हो रहे थे। इसी समय उन्हें उमा का पत्र मिला। उनके अश्चर्य की सीमा न रही। अपने मनमें कहा—यह नई बात कैसी? उमा ने पहले तो कभी ऐसा उदारता नहीं दिखाई थी। उस समय भी जब वह स्वतन्त्र थी और रतन उसके प्रेम में दीवाने बने फिरते थे, उसने कभी ऐसा शब्द भी मुख से न निकाला था, जिससे रतन के नैराश्यपूर्ण हृदय में आशा अंकुरित होती। फिर इस आकस्मिक कायापलट से रतन को आश्चर्य क्यों न होता? उसने

बिहारी से विवाह करके रतन की अवहेलना की—उसकी इस अनुदारता से रतन को दुःख होना स्वाभाविक था; किन्तु वे विवश थे, क्या करते ? एक बाल्य-काल का मित्र था, दूसरी वह थी, जिसके सम्मुख हृदय की बात प्रकट करना, साहस का काम था। सिवा चुप रहने के कोई उपाय न था। उमा का विवाह हो जाने के बाद से उनका यह प्रयत्न रहता कि मन का भाव प्रकट न होने पावे। इसी सद्भाव से प्रेरित होकर वे उमा के यहाँ सप्ताह में दो बार अवश्य जाया करते; परन्तु उनकी कृतिम उदासीनता, आन्तरिक ज्वाला शान्त करने में असमर्थ थी। उनके हृदय में घोर संग्राम छिड़ा रहता। वे अपनी इच्छाओं और उमङ्गों को कुचल डालना चाहते थे; किन्तु सोने का ढेर सामने पाकर उसकी ओर से मुँह फेर लेना विरले ही का काम है। वह संयम और मनोविराग की अलौकिक अवस्था है, जब मन इच्छाओं की बेड़ी से मुक्त हो जाता है। रतन के हृदय में ईर्ष्या अंकुरित हुई। एक आफ़त से जान छुड़ाने गये थे, दूसरी मुसीबत गले पड़ी। उन्हें अपनी ग़लती मालूम हुई, उमा के यहाँ जाना क्रमशः कम कर दिया—हफ्ते में दो बार से हफ्ते में एक बार, हफ्ते में एक बार से पन्द्रह दिन में एक मर्तबा, और फिर महीने में एक दफ़ा।

रतन के दिल में आया कि टाल जायँ। बुद्धि ने कहा—जाना ठीक नहीं। ऐसी जगह जाने से क्या फ़ायदा, जहाँ सिर-दर्द के सिवा कुछ हाथ न लगे; लेकिन मन कब मानता है ? उन्होंने मन में फिर सोचा, यह अनहोनी बात ! यह स्वर्ण-अवसर ? उमा का

भेजा हुआ निमन्त्रण—जाना चाहिए, सिर-आँखों के बल जाना चाहिए। रतन ने जाना ही निश्चित् किया। उनकी दशा उस बालक की-सी थी, जो माँ से वादा करता है कि अब किसी चीज़ के लिए ज़िद न करूँगा ; लेकिन मिठाईवाले की आवाज़ सुनते ही फिर मचल जाता है !

उमा का सुसज्जित ड्राइंग-रूम विद्युत-प्रकाश से जगमगा रहा था। वह एक कोच पर पड़ी हुई एक पुस्तक पढ़ने का प्रयत्न कर रही थी ; किन्तु पढ़ने में जी नहीं लगता था। प्रतीक्षा में चित्त की एकाग्रता कब प्राप्त होती है ? उसके नेत्र बार-बार द्वार की ओर देखते, निराश होकर लौटते और फिर देखते, कान किसी के पैर की आहट पाने के लिए आतुर थे। इतने में नौकर ने रतनकुमार के आने की सूचना दी।

उमा ने बढ़कर मधुर मुस्कान से रतन का स्वागत किया, जैसे अरुणोदय के समय उषा की सौन्दर्य-माधुरी उद्यान के फाटक पर एकान्त-सेवी दर्शक का स्वागत करती है। रतन मन्त्रमुग्ध से हो गये। उमा के शृङ्गार और सौन्दर्य ने उनके साथ वह काम किया जो वाटिका की अनुपम छवि दर्शक के साथ करती है। पूर्व की स्मृतियाँ, बाल्यकाल के सुखद स्वप्न, हृदय की सुप्त आशायें जाग पड़ीं, मानो कवि के मस्तक में विश्राम करती हुई कल्पना बाल सूर्य की शीतल रश्मियों से, वसन्ती समीर के मन्द झकोरों से, सुगन्ध की लपटों से जाग गई हो ! रतन ने उमा को कितनी ही बार देखा था, रात्रि की अन्धकारमय नीरवता में कितनी ही बार

उसके सौन्दर्य की कल्पना की थी ; किन्तु पहले उसमें ऐसी आकर्षणी शक्ति नहीं थी। पहले उनको उमा के सौन्दर्य में रहस्यमय कठोरता दिखाई देती थी; किन्तु आज वह माधुर्य की जीती-जागती तस्वीर थी।

उमा ने मुस्कराकर पूछा—इतने दिनों तक आये क्यों नहीं ?

"अवकाश नहीं मिलता था।"

"बातें न बनाओ। यह क्यों नहीं कहते कि जी नहीं चाहता था ?"

रतन—(झेंपकर) नहीं, यह बात नहीं थी।

"फिर क्या आपको इतना समय नहीं मिल सकता कि यहाँ आ सकते ? अवकाश तो कोई ऐसी चीज़ नहीं कि न मिल सके।"

रतन—(विषय पलटने के निमित्त) आज बिहारी भाई कहाँ हैं ? दिखाई नहीं देते।

"एक दावत में गये हैं।"

इतने में नौकर ने आकर कहा—खाना तैयार है।

दोनों खाने के कमरे में चले गये। खाना मेज पर लगा दिया गया।

"शुरू कीजिए।"

"आप भी आयँ।"

"यह तो नियम के विरुद्ध है। पहले मेहमान की खातिर होनी चाहिए।"

"लेकिन यह भी तो नियम के विरुद्ध है कि मेहमान अकेला छोड़ दिया जाय।"

उमा निरुत्तर हो गई। रतन की बात माननी ही पड़ी। खाना शुरू हुआ। खाने के साथ-साथ बातें भी होती जाती थीं। रतन को खाने में आज तक कभी ऐसा स्वाद न मिला था। एक-एक चीज़ की प्रशंसा कर रहे थे। रसोइये ने खीर की दो तश्तरियाँ लाकर रख दीं और कहा—यह हुजूर की बनाई हुई चीज़ है। खीर बहुत अच्छी बनी थी, रतन को कोई चीज़ वैसी स्वादिष्ट न मालूम हुई। बार-बार जी चाहता था कि तारीफ़ करें; किन्तु मुख से एक शब्द भी न निकल सका। कोई और समय होता, तो उमा इस चुप का मतलब कुछ और समझती; परन्तु अब उसे स्वभाव का काफ़ी ज्ञान हो चुका था। प्रशंसा के लिये शब्दों की आवश्यकता न थी।

भोजन के उपरान्त दोनों टहलते हुए बाग़ में चले गये। आकाश के नीले परदे से झाँकता हुआ द्वितीया का चन्द्रमा ऐसा जान पड़ता था, मानो किसी सुन्दरी के नीले घूँघट से उसकी ठुड्डी झाँक रही हो। असंख्य तारे साड़ी में टँके हुए सितारे थे।

उमा ने कहा—वह समय याद है जब हम, बिहारी और तुम घण्टों आकाश की शोभा देखा करते थे?

हृदय से निकली हुई ठण्डी साँस दबाते हुए रतन ने कहा—क्या वे बातें भूल सकती हैं?

"हम सब फूल चुनते और हार गूँथते थे।"

"हाँ, हम जब हार बनाने की कोशिश करते, कभी फूल चुक जाता, कभी धागा टूट जाता—तुम हस पड़तीं। एक बार बड़ी

मेहनत के बाद मैंने और बिहारी ने एक-एक हार तैयार किया और तुम्हें देना चाहा। तुमने बिहारी का ले लिया, मेरा नहीं स्वीकार किया।"

"रतन, वे पुरानी बातें भूल जाओ। मैं स्वयं नहीं जानती कि मैंने ऐसा क्यों किया। वह लड़कपन का ज़माना था, उस समय मुझमें अच्छे-बुरे की पहचान नहीं थी।"

इसी समय पास के घण्टाघर ने नौ बजने की सूचना दी, रतन ने कहा—अच्छा अब मैं जाता हूँ।

"फिर आओगे? अवकाश मिल जायगा?"

"अब अधिक लज्जित न करो। जब बुला भेजोगी, चला आऊँगा।"

"वादा करते हो?"

"हाँ।"

रतन जब बाहर आये, उन्हें ऐसा मालूम होता था, माना आकाश में उड़े जा रहे हैं। अनुकूल जल-वायु पाकर प्रेम का सूखता हुआ पौधा फिर लहलहा उठा!

• • • •

कर्तव्य पूरा हो गया, उमा के हृदय का बोझ हट गया। उमा की दशा उस दरिद्र सफेदपोश की-सी थी जो अपनी दरिद्रता का ज्ञान विस्मृत करने के निमित्त मदिरा का सेवन करने लगता है। उमा लौटकर ड्राइंग-रूम में आई और पढ़ने में मग्न हो गई।

ग्यारह बजे के समय बिहारी घर लौटे। बिहारी ने पूछा—कोई

आया तो नहीं था ?—उमा ने कुछ सोचकर उत्तर दिया—रतन आये थे। मैंने उन्हें खाने के लिए रोक लिया था।

उमा ने यह बात छिपा ली कि उसने रतन को स्वयं निमन्त्रित किया था। उमा और बिहारी का वैसा सम्बन्ध नहीं था, जिसमें भेद रखने की गुञ्जाइस नहीं थी। वे एक-प्राण दो शरीर नहीं थे। दो शरीर थे, दो प्राण थे, दोनों पृथक्, दोनों भिन्न—पृथ्वी और आकाश का अन्तर !

बिहारी के मुख से शराब की बू आ रही थी। उमा को बड़ी घृणा हुई। वह उठकर शयनागार में चली गई। बिहारी वहीं एक कोच पर लेट गये और यह ईरादा करते हुए कि अब चलते हैं, सो गए।

दूसरे दिन उमा ने बिहारी को वहीं कोंच पर पड़े हुए पाया। आठ बज चुके थे ; लेकिन उन्हें अभी होश न था। काग़ज़ के कई पुर्जें बिहारी के कोट की जेब में आधे भीतर आधे बाहर निकले हुए दिखाई देते थे। रोशनदान से आती हुई सूर्य की किरणें उनके मुख पर पड़ रही थीं। कुतूहलवश उमा ने पुर्जे बाहर खींच लिये, उलटा-पलटा, पढ़ने की इच्छा हुई। पहला एक होटल का बिल था, दूसरा एक पत्र। पत्र में लिखा था—

'प्रिय बिहारी बाबू,

मुझे इस बात का बड़ा दुःख है कि उस दिन तुमसे एकान्त में मिलने का अवसर न मिला। मुझे आशा है, तुमने बुरा न माना होगा। तुम जानते हो, मुझे तुमसे कितना प्रेम है। पुरानी बातें इस

बात का सबूत हैं। अगले शनिवार को अवश्य आना। उस दिन यहाँ कोई न रहेगा।

तुम्हारी—

श्यामा'

पत्र लिये हुए उमा अपने शृङ्गार-गृह में चली गई! पत्र फिर पढ़ा—सन्देह दृढ़ हो गया। उमा को उदासीनता घृणा में परिणत हो गई।

उमा लौटी कि जाकर पत्र बिहारी की जेब में रख दे; लेकिन वे जाग चुके थे। अतएव उसने पत्र को अपने सन्दूक़ में बन्द कर दिया।

(३)

उमा के लिये यह पत्र वैसा ही था, जैसे मदिरा बेचनेवाले के लिए सरकारी लाइसेंस। रतन को बुलाना, या उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करना, पहले उसे अनुचित जान पड़ता था; किन्तु अनुचित अब उचित हो गया। बिहारी के अक्षम्य विश्वास-घात के सामने उसका अपना अपराध दब गया। वह सोचती—क्या विश्वास-घात का स्वाभाविक उत्तर विश्वासघात नहीं? उन्होंने मुझे धोखा दिया सब्ज़ बाग़ दिखाया, क्या मैं उस व्यक्ति के साथ सहानुभूति भी न प्रकट करूँ, जिसके साथ अनुचित व्यवहार करने के कारण आज मुझे ये दिन देखने पड़े? यदि वह उचित था, तो यह भी उचित है।

पहले जब बिहारी अपने दोस्तों की दावतों में शरीक होने का

प्रस्ताव करते, तो उमा उन्हें रोकने का भरसक प्रयत्न करती ; किन्तु अब बिना कुछ कहे-सुने सहमत हो जाती। यदि वे आर्थिक सहायता माँगते, तो बिना आना-कानी किये दे देती। पहले उसे उनकी अनुपस्थिति से दुःख होता था, अब उनकी उपस्थिति से !

रतन और उमा का सम्बन्ध अब उस दरजे को पहुँच चुका था, जब उसे केवल पारस्परिक सहानुभूति कहना सत्य नहीं। एक को दूसरे की संगति अत्यन्त आवश्यक हो गई थी, बिछुड़ना खल जाता। रतन यदि किसी दिन न आते, या आने में देर करते, तो उमा व्याकुल हो जाती, शङ्कायें घेरने लगतीं। बार-बार नौकर भेजती और बुलाती। दोनों कभी घूमने निकल जाते, कभी बाइस्कोप देखने जाते, और कभी घर ही पर आनन्दोत्सव मनाते।

इसी प्रकार धीरे-धीरे दिन बीतने लगे। उमा का सौन्दर्य दिनो दिन निखरता जाता था, शरीर से आभा फूटी पड़ती थी, होठों पर हर्ष का माधुर्य था, नेत्रों में यौवन का मद। उसकी दशा उस कोमल पुष्प के समान थी, जो बाल सूर्य की प्राणपोषक रश्मियों और वसन्ती समीर के मधुर स्पर्श से अधिक कोमल, अधिक प्रफुल्ल, और अधिक सुरभित हो जाता है। रतन इस पुष्प पर भौंरे की भाँति रीझे हुए थे।

(४)

बिहारी ने जब उमा के साथ विवाह करने का इरादा किया था, तब केवल आर्थिक लाभ का ही विचार न था। उन दिनों उन्हें सुधार की धुन सवार थी। इस अस्वाभाविक काया-पलट का

एक-मात्र कारण था धनाभाव । पैतृक सम्पत्ति का विशेषांश रङ्ग-रेलियों में पड़ चुका था, जो शेष था, उस पर महाजनों के दाँत लगे हुए थे। ऐसी शोचनीय दशा में सिवा आत्म-शुद्धि के, उद्धार का क्या उपाय था ? सुधार बिना किसी दूसरे की मदद के आसान काम नहीं। निर्धन की दृष्टि धनवान् पर ही पड़ती है। हम आत्मिक प्रेरणा अथवा आर्थिक सहायता के निमित्त अपने से अच्छी दशावाले का ही मुँह ताकते है—यह मानव-स्वभाव है। बिहारी की उमा पर नज़र पड़ी। वह मालदार थी—उसके पास दौलत का खज़ाना भी था और रूप का भी। उसका धन उन्हें महाजनों के पञ्जों से मुक्त कर सकता था और उसका सौन्दर्य रूप के बाज़ार के फन्दों से। बिहारी ने प्रेम का स्वाँग भरा, जाल फैलाया—वह फँस गई ; लेकिन खज़ाना हाथ लगते ही बिहारी का मन भी बदल गया, जैसे बोतल सामने देखते ही तौबा किये हुए शराबी की तबीयत बदल जाती है। सुधार की प्रेरक आन्तरिक ग्लानि न थी, धनाभाव था। सौन्दर्य का बाज़ार फिर अपनी ओर खींचने लगा।

आकर्षण में स्थिरता नहीं होती। किसी वस्तु का आकर्षण उसकी नवीनता होती है। निरन्तर का सहयोग आकर्षण का घातक है। बालक को अपना खिलौना तभी तक प्रिय होता है, जब तक वह नया रहता है। बिहारी पर उमा के सौन्दर्य का प्रभाव अधिक समय तक न रह सका। उसमें वे बातें कहाँ, जो बाज़ारू औरतों में होती हैं—न वह हाव-भाव, न वह कटाक्ष, न वे

चुहलें, न वे रसीली बातें और फिर हृदयहीन, स्वार्थ-रत भौंरा एक ही फूल का होकर नहीं रह सकता !

रात को दस बज चुके थे। मिस्टर बिहारीलाल अपने तीन अन्य मित्रों के साथ 'अलाएंस होटल' से झूमते हुए बाहर निकले।

"बिहारीलाल—भई, आज खूब लुत्फ़ रहा।"

"हाँ, लेकिन एक बात की कमी थी।"

"किस चीज़ की ?"

"कोई साक़ी न था।"

"हाँ, मज़ा तो तब था, जब कोई सुन्दरी पिलाती।"

"यह तो कोई मुश्किल न था।"

"भई, यह तो बड़ी चूक हुई।"

"लेकिन यहाँ किसे लाते ? यहाँ इतनी आजादी नहीं।"

"सच तो यह है, कि यह जगह पीने-पिलाने के लिए ठीक नहीं, हर तरह के आदमी आते रहते हैं।"

"इसके लिये पूरा एकान्त चाहिये कोई बाग़ हो और चाँदनी रात।"

"नहीं, भूलते हो। दरिया का किनारा हो और चाँदनी रात।"

"और कोई सुन्दर पिलानेवाली हो, तो एक बार परहेज़गारों का भी तोबा टूट जाय।"

बिहारीलाल—तो इसमें क्या मुशकिल है, अगले शनिवार को यह भी सही।

सहसा बिहारीलाल को कुछ ख़याल आया। उन्होंने चौंककर

कलाई पर बँधी हुई घड़ी देखी और कहा—बड़ी भूल हुई। अच्छा, मैं आप लोगों से इजाज़त चाहता हूँ।

"नहीं-नहीं, इस समय कहाँ जाओगे।"

"मुझे बड़ा ज़रूरी काम है,"—यह कहते हुए बिहारीलाल अपनी गाड़ी की ओर बढ़े। कोचवान ने अदब से गाड़ी का दर-वाज़ा खोल दिया। बाबू साहब सवार हुए। गाड़ी हवा से बातें करने लगी। मित्रों को रोकने का मौका न मिला।

आध घण्टे में गाड़ी चौक पहुँची। बिहारीलाल उतरे और कोचवान को रुके रहने की ताक़ीद करके एक गली में घुस गये। गली में सन्नाटा छाया हुआ था, कुत्ते भी भूँकते-भूँकते थक गये थे और जगह-जगह कूड़े के ढेरों पर पड़े झपकियाँ ले रहे थे, गली अँधेरी थी; लेकिन बिहारी इस शीघ्रता और सफाई से चले जा रहे थे, मानो नित्य चलते-चलते उनके पैर गली के एक-एक कंकड़-पत्थर से परिचित हो गये हों। बिहारी एक विशाल भवन के सामने जाकर रुक गये। मकान के नीचे का हिस्सा अँधेरा पड़ा था; लेकिन ऊपर की खिड़कियों से रोशनी छन-छनकर सामने के मकान पर पड़ रही थी। पूर्ण निस्तब्धता छाई हुई थी—वह विचारोत्पादक निस्तब्धता, जो गाना रुकने के बाद फैल जाती है। बिहारी ने दरवाज़ा खटखटाया, कोई जवाब न मिला; हाँ इसी समय सारङ्गी के तारों से निकला हुआ कोमल-मधुर स्वर दिशाओं में गूँज उठा। तबले पर थाप पड़ी और किसी सुन्दरी के कोमल कण्ठ से निकला हुआ, दिल खींच लेनेवाला अलाप सारङ्गी के लय

से हिलमिलकर नृत्य करने लगा। बिहारी इस अलाप से भली-भाँति परिचित थे। यह श्यामा के कोमल कण्ठ से निकली हुई अलाप थी। यह वह अलाप थी, जिसे सुनते ही बिहारी आनन्द से विह्वल हो जाते, जी चाहता, कि इसे कलेजे में बिठा लें और हृदय-तन्त्रियों में सदा के लिए बन्द कर लें; किन्तु आज वही अलाप उनके हृदय में शूल चुभा रही थी! पहले यही अलाप बिहारी के लिये प्रेम और हर्ष का सन्देश होती थी; परन्तु आज यही अलाप श्यामा की बेवफ़ाई की स्पष्ट घोषणा थी। बिहारी ने फिर ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाया; लेकिन फिर भी किसी ने जवाब न दिया। उन्हें बड़ा क्रोध आया। जी तो यही चाहता था, किसी तरह किवाड़ खुलवाकर अन्दर जायँ और श्यामा को खूब फटकारें, लेकिन इसमें बदनामी-ही-बदनामी हाथ रहती। बिहारी उलटे पाँव लौटे और सड़क की ओर चले। घोर हार्दिक वेदना की दशा में सोचते चले जाते थे—यह है दुनियाँ का रङ्ग। जिसके साथ प्रेम करो, वही गला काटने को तैयार हो जाता है। यही है, श्यामा जिसके प्रेम की कहानियाँ सुनते-सुनते कान पक गये। आज तोते की तरह नज़र फेर ली। मुझे आने में ज़रा-सी देर हो गई, इसने यहाँ यारों को अन्दर दाख़िल कर लिया। इसके लिये मैंने क्या उठा रक्खा, इसके पीछे मैंने क्या नहीं बिगाड़ा? धन, दौलत, रियासत—सब ख़ाक में मिल गई; लेकिन फिर भी इसका मुँह सीधा न हुआ। महीने में तीन-चार सौ देता था; फिर भी इसकी फ़रमाइशें बनी रहती थीं; लेकिन मैंने कभी शिकायत नहीं की।

मेरा तो यह बर्ताव और इसकी यह तोताचश्मी। इसी के लिये उमा को धोखा देता हूँ, नित नई-नई चालें खेलता हूँ, रुपये ऐंठता हूँ और इसके कलेजे में भरता हूँ। घण्टों घर से गायब रहता हूँ, महीनों बीत गये, आधी रात से पहले कभी घर नहीं गया। प्रायः सारी रात बाहर ही कट जाती है। उमा मन में क्या सोचती होगी? मन-ही-मन में कुढ़ती होगी। यह बड़ी बेजा बात है।

सड़क सामने आ गई। कोचवान बैठा ऊँघ रहा था। उसे 'साहब' के इतना शीघ्र लौट आने पर बड़ा आश्चर्य और दुःख हुआ—ग़रीब की नींद भी पूरी न होने पाई, गाड़ी रवाना हुई और आध घण्टे में बँगले पर पहुँच गई।

बिहारी का विचार था, कि उमा ड्राइंग-रूम में पड़ी हुई अपनी हालत पर अफसोस करती होगी, या सो गई होगी; लेकिन ड्राइंग रूम ख़ाली पड़ा था, वहाँ कोई न था। उन्होंने शयनागार में जाकर देखा, उमा वहाँ भी न थी। एक-एक कमरे में जाकर देखा—उमा कहीं भी दिखाई न दी। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ।

नौकर बरामदे में पड़ा सो रहा था, बाबू साहब ने उसे जगाया और पूछा—मलकिन कहाँ हैं?

"हूजूर कुछ बताया नहीं, कहीं घूमने गई हैं।'

बिहारी का माथा ठनका, सहस्रों शङ्कायें घेरने लगीं—यह क्या माजरा है? ज़िन्दगी से आजिज़ आकर उसने कहीं जान तो नहीं दे दी? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। उमा ऐसी नादान नहीं, उससे ऐसी मूर्खता नहीं हो सकती। फिर, क्या बात है?

आख़िर वह गई कहाँ ? कुछ समझ में नहीं आता। बिहारी इसी उलझन में फँसे हुए एक कोच पर आकर लेट गये। वे इस दशा में दस मिनट रहे होंगे, कि उन्हें किसी गाड़ी के पहियों की आवाज़ सुनाई दी। वे झपटकर बाहर आये।

उमा गाड़ी से उतर रही थी और एक सफ़ेदपोश महाशय बँगले से बाहर जा रहे थे। बिहारी ने उमा से पूछा—कहाँ से आ रही हो ?

"सिनेमा देखने गई थी।"

"और कौन साथ था ?"

"रतन थे।"

"तुमने मुझे नहीं बताया, कि सिनेमा देखने जाओगी ?"

"क्या तुम मुझे अपनी सारी बातें बताया करते हो ?"

बिहारी निरुत्तर हो गये। आज वे स्वयं अपनी दृष्टि में दोषी थे।

(५)

प्रतिक्रिया आरम्भ हो चुकी थी। बिहारी अब विशेषतः घर ही पर रहते थे। उनका हृदय एक बार फिर दाम्पत्य के सरल सुखों के लिये लालायित हो उठा; किन्तु वे जितना प्रेम करने का प्रयत्न करते, उमा उनसे उतना ही दूर भागती। उसे उनसे डर-सी लगता था—उनसे मिलने में अधिक वेदना होती थी। अब वह उन्हें अपना शुद्ध विमल प्रेम नहीं दे सकती थी। उनका उसके शरीर पर अधिकार अवश्य था; किन्तु उसका स्वतन्त्र हृदय

और उसमें बहता हुआ प्रेम का निर्मल स्रोत अब दूसरे का हो चुका था। वह बिहारी की ओर से जितना खिंचती, रतन की ओर उतना ही बढ़ती। बिहारी देख रहे थे कि वह उनकी ओर से उदासीन हो रही है; परन्तु उनकी समझ में कोई कारण न आता था।

(६)

यौवन और वासना का अटूट सम्बन्ध है। वासना प्रेम का घातक है; किन्तु प्रेम को वासना के तीव्र आघातों से बचाये रखना बिरले का ही काम है। कौन है, जो आत्म-संयम का महत्त्व नहीं जानता? कौन ऐसा है, जो हृदय को वासना की कालिमा से पवित्र रखने का प्रयत्न नहीं करता? परन्तु, सुन्दरी के भेद-भरे नयनों का एक साधारण कटाक्ष, उसके सरस अधरों की सरल मुस्कान, उसके अञ्चल की एक लहर, चित्त को चञ्चल कर देने के लिए बहुत है।

रतन काम के बाणों का वीरता के साथ सामना कर रहे थे; परन्तु एक सहस्र सैनिक के तीव्र आघातों का बेचारा निहत्था आदमी कब तक सामना कर सकता है? जानते थे कि हार निकट है; किन्तु वे निरुपाय थे। रतन सोचते—इस प्रेम का कहाँ अन्त होगा? उमा मुझसे प्रेम अवश्य करती है; किन्तु यह प्रेम उसी समय तक है, जब तक हमारा सम्बन्ध निष्काम है। यदि मुझसे जरा-सी भी असावधानी हुई, तो वह मुझसे अवश्य घृणा करने लगेगी; लेकिन मैं कितने दिनों तक दामन बचा-बचा-

कर चलूँगा ? मैं अपने दिल को अपने वश में नहीं रख सकता। यदि बिहारी को ये बातें मालूम हो गईं, तो वे क्या कहेंगे ? दोस्ती, मुरौवत सबका अन्त हो जायगा और बदनाम भी हो जाऊँगा। मैं वहाँ जाता ही क्यों हूँ ? अच्छा, आज से कभी न जाऊँगा ; परन्तु इस पवित्र संकल्प का उसी समय अन्त हो जाता, जब उमा के यहाँ से बुलावा आता।

उमा के हृदय में प्रतिशोध की इच्छा प्रबल थी। वह बिहारी को दिखा देना चाहती थी कि स्त्री केवल पुरुषों की इच्छाओं की दासी नहीं—उसके अपने भी स्वत्व हैं, अधिकार हैं, इच्छाएँ हैं। रतन उसकी कार्य-सिद्धि के साधन-मात्र थे। उमा नित्य नया शृंङ्गार करती, नये-नये, आभूषण पहनती, नई-नई साड़ियाँ बदलती, रतन को रिझाती और उनका साहस बढ़ाती। इस कार्य में कहाँ तक इच्छाओं का भाग था और कहाँ तक उस गुप्त प्रेरणा का, जो हमें अज्ञात रूपसे कार्य-सम्पादन में योग देती है—यह कहना कठिन है ! किन्तु इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि उमा में कार्य-सिद्धि की वह प्रबल कामना थी, जो बलिदान के मूल्य की परवा नहीं करती।

फागुन का महीना था, सन्ध्या का समय। ऋतुराज के आगमन के आनन्द में कुसुम-कुञ्ज और पुण्य-उद्यान सौरभ, सौन्दिर्य, अलङ्कार और रङ्ग से वैसे ही सजे हुए थे, जैसे परदेश से लौटे हुए पतियों का स्वागत करने के लिए युवती रमणियाँ शृङ्गार करती हैं। उमा और रतन वाटिका में टहल रहे थे। उमा ने

गुलाब का एक अधखिला फूल तोड़ा और रतन के कोट में लगाने लगी। एक तो सौरभ, रङ्ग और समीर की उत्तेजक शक्ति, और फिर प्रेमी के कोमल करों का मधुर स्पर्श—रतन सिहर उठे, बदन में बिजली-सी दौड़ गई, हृदय की गति तीव्र हो गई। उमा की उँगलियाँ अपना काम पूरा कर चुकी थीं, वह हाथ हटाना ही चाहती थी कि रतन ने विद्युत-वेग से उमा की कुसुम-कोमल हथेली अपने गर्म हाथों में ले ली। उमा का मुख आरक्त हो गया, आँखें नीली हो गईं। उसके हृदय में लज्जा अधिक थी, या विजयोल्लास—यह कहना कठिन है। इसी समय बँगले में किसी गाड़ी के प्रवेश करने का शब्द हुआ। उमा ने हाथ छुड़ा लिया और शीघ्रता से वाटिका के बाहर चली गई। गाड़ी में बिहारी आये थे। बिहारी ने उमा को वाटिका से निकलते देख लिया। उन्हें कुछ सन्देह हुआ। वे गाड़ी से उतरते ही बाग़ में गये और रतन को मानसिक विकलता की दशा में भूमि की ओर ताकते हुए पाया। रतन को बिहारी के आने की खबर तक न हुई, वे वैसे ही खड़े रहे। बिहारी उलटे पैर लौट आये। सन्देह में अंकुर फूट पड़ा। उमा की उदासीनता का कारण स्पष्ट हो गया। बिहारी ने सोचा—ये महाशय आज-कल यहाँ क्यों चक्कर काटा करते हैं। पहले तो इतनी कृपा न करते थे। इसमें कुछ-न-कुछ भेद अवश्य है।

(७)

रतन की इस समय वह दशा थी, जो पहली बार शराब पीने

पर नशा उतरने के बाद हो जाती है। आत्मिक वेदना भी थी, पश्चात्ताप भी था। मानसिक अशांति की दशा में सोचते थे—उमा ने मन में क्या सोचा होगा? कहीं मुझे चरित्रहीन न समझने लगे। उसने कुछ कहा नहीं, चुपचाप बाहर चली गई—इसका क्या मतलब है? उसने ज़रूर बुरा माना होगा। मुझसे बड़ी ग़लती हुई, मुझे उस समय न-जाने क्या हो गया था। उमा से आँखें मिलाकर अब कैसे बातें करूँगा? नहीं, अब मैं वहाँ कभी न जाऊँगा। रतन इसी उलझन में बड़ी रात तक जागते रहे। अन्त में निद्रादेवी को उनकी शोचनीय दशा पर दया आ गई।

- रतन ने उमा के यहाँ न जाने का आज पहली ही बार सङ्कल्प न किया था। उनके इस प्रकार के इरादों का मूल्य सिद्ध हो चुका था। वे इस बात से स्वयं लज्जित थे।

वाटिकावाली घटना को कई दिन बीत गये। रतन ने अभूत-पूर्ण दृढ़ता दिखाई—सङ्कल्प में शिथिलता न आने दी। इस बीच में उमा के पास से कोई बुलावा न आया। रतन का यह सन्देह कि उमा मुझपर नाराज़ है, ज़ोर पकड़ता जाता था। उनकी मानसिक अशांति बहुत कुछ घट गई थी। उन्हें थोड़ा-बहुत दुःख अवश्य था; किन्तु वे मन को इस प्रकार समझाते—चलो अच्छा हुआ, बला से जान छूटी। अब बात छिपी रह जायगी। मुझे अपनी भूल भी मालूम हो गई; नहीं तो न जाने कब तक धोखे में रहता—साधारण सहानुभूति को प्रेम समझ बैठा, कितनी बड़ी नादानी थी।

एक दिन सन्ध्या-समय वायु-सेवन के बाद रतन जब होस्टेल लौटे तब उन्हें अपने कमरे में एक बन्द लिफाफा पड़ा मिला। रतन ने लिफ़ाफ़ा उठाकर देखा, हस्त-लिपि उमा की थी। रतन का हृदय वेग से धड़कने लगा। काँपते हुए हाथों से लिफ़ाफ़ा खोला। पत्र में लिखा था—

'प्रिय रतन,

आज पाँच दिन हो गये। तुमने सूरत नहीं दिखाई। क्या मुझसे नाराज़ हो? बड़ी प्रतीक्षा कराते हो? परन्तु इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं, दोष मेरा है कि प्रेम के हाथों ऐसी बिक गई। अब कब आओगे? आज सध्या-समय अवश्य आना। मैं तुम्हारा इन्तज़ार करूँगी।

दर्शनाभिलाषिनी,

उमा।'

पत्र देखकर रतन को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा था कि उमा ने खूब खरी-खोटी सुनाई होगी; लेकिन यहाँ तो पाँसा ही पलटा हुआ था। रतन के हृदय-सागर में आनन्द की लहरें उठने लगीं। आज पहला ही अवसर था कि उमा ने स्पष्ट शब्दों में अपने मन की बात कही। आज उन्हें प्रत्येक वस्तु में सुन्दरता दिखाई देती थी और प्रत्येक वस्तु में स्वाभाविक सहानुभूति। नीरव गगन में वसन्त की मधुर श्री फूटी पड़ती थी। कुसुम-कुञ्जों से आती हुई समीर सुगन्ध से लदी हुई थी। सामने वृक्ष पर चहकती हुई छोटी-छोटी चिड़ियों के सुमधुर कल-रव में प्रेम के राग थे।

रतन चाहते तो थे कि न जायँ ; किन्तु कोई प्रबल प्रेरणा उन्हें उमा के घर की ओर बलात् खींचे लिये जाती थी, पैर स्वयं चले जाते थे। इच्छा-शक्ति विवश थी।

(८)

गोधूलि का समय था। आकाश में फैली हुई लाली निशा-सुन्दरी की काली चादर में छिपी जाती थी। बिहारीलाल अपने बँगले के आहाते में वेग से घुसे और सीधे पाटिका में चले गये। उनकी दशा इस समय उस गुप्तचर की-सी थी, जो कोई रहस्य खोलने में व्यस्त हो। बिहारी ने ध्यान से इधर-उधर देखना शुरू किया, माता प्रकृति अपने सुकुमार बच्चों को थपकी देती हुई सुला रही थीं ; किन्तु चञ्चल वासन्ती समीर एक न चलने देता था। लताएँ और पुष्प हठी बालकों के समान मचलते और सिर हिलाते ; परन्तु यह प्रेम-क्रीड़ा देखने के लिए बिहारी के आँखें न थीं। उन्हें कुछ और ही धुन सवार थी। उनकी भेद-भरी आँखें जिन्हें ढूँढ़ती थी, वे यहाँ दिखाई न दिये। बिहारी ने सोचा—क्या वार खाली जायगा? वे कुञ्ज की ओर बढ़े। लता-भवन सूना पड़ा था। बिहारी को बड़ी निराशा हुई। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि उमा और रतन इस समय वहाँ अवश्य होंगे। उन्हें मिलने का अवसर देने के लिए आज वे प्रातःकाल से ही घर से बाहर चले गये थे। वे पास ही पड़ी हुई एक बेंच पर बैठ गये, मस्तिष्क में विचार-तरङ्गे उठने लगीं।

बिहारी आत्म-विस्मृत की दशा में बड़ी देर तक बैठ रहे। सहसा

उन्होंने चौंककर सामने देखा। चन्द्रमा की स्वर्ण रश्मियाँ पत्तों के झुरमुट से छन-छनकर वाटिका में मन्द-मन्द रहस्यमय प्रकाश फैला रही थीं। स्वर्ण-रक्त-रञ्जित चन्द्रमा ऐसा जान पड़ता था, मानो किसी सुन्दरी के मुख पर लज्जावश गुलाबी दौड़ गई हो। बिहारी को किसी के बात-चीत करने की आहट मिली। वे उठकर शीघ्रता से एक सघन वृक्ष की आड़ में छिपकर देखने लगे। आगन्तुक कोई और नहीं, उमा और रतन ही थे। दोनों पास आ गये। बिहारी के कौतूहल का इस समय कुछ ठिकाना न था।

रतन ने कहा—आज मेरे जीवन का स्वर्ण-दिवस है।

उमा ने मुस्कुराकर उत्तर दिया—और मेरा भी।

अपने भाग्य को धन्यवाद दूँ, या इन प्यारे हाथों को—यह कहते हुए रतन ने उमा की कोमल हथेली अपने जलते हुए हाथों में ले ली और तप्त अधरों से उस पर प्रेम का प्रथम चिह्न अङ्कित कर दिया।

बिहारी को अब अधिक प्रमाण की आवश्यकता न थी। वे अब ज्यादा न देख सके, झपटे और क्रोध एवं घृणा की मूर्त्ति बने हुए उन दोनों के सामने जाकर खड़े हो गये। उमा और रतन क्षण-भर तक हतबुद्धि से ताकते रहे। आश्चर्य और क्षुद्रता मूर्त्तिमान् हो गई थी। उमा सँभली और चुपचाप वाटिका से बाहर चली गई। रतन ने भी जाना चाहा; किन्तु बिहारी ने व्यंग्य-वाक्य से रोककर कहा—जाते कहाँ हैं महोदय? ठहरिए, मेरी भी सुनते जाइए।

रतन अपराधी बालक के सदृश ठिठककर रह गये।

बिहारी ने घृणा-मिश्रित क्रोध से कहा—रतन, क्या दोस्ती और मुरौवत-का बदला यहीं रह गया है ? किसी दुश्मन के गले पर छुरी चलाते, तो मरदानगी होती, यह क्या कि दोस्त ही का गला काटो।

रतन कोई उत्तर न दे सके। बिहारी का क्रोध दुगना हो गया, नेत्रों से ज्वाला निकलने लगी।

'बोलो, क्या जवाब देते हो ? बोलो, नहीं तो इसी पिस्तौल से अपना और तुम्हारा दोनों का भेजा उड़ा दूँगा।'—बिहारी ने पतलून की जेब से एक रिवाल्वर निकाल लिया।

रतन का हृदय भय से काँप उठा। बचने का कोई मार्ग दिखाई न दिया। सहसा उन्हें एक उपाय सूझा। उन्होंने जेब से एक काग़ज़ निकाला। यह उमा का पत्र था। रतन ने बिहारी को पत्र देकर कहा—बिहारी, इसमें मेरा ही क़सूर नहीं। यह ख़त इस बात का सबूत है।

बिहारी ने पत्र को ले लिया और दिया सलाई जलाकर उसके प्रकाश में पढ़ा। बिहारी का विचार था कि सारा अपराध रतन का है; लेकिन पत्र से बात कुछ और हुई। बिहारी पत्र लिये हुए बाग़ से बाहर चले गये।

रतन वहीं मूर्त्तिवत् खड़े रह गये। आवेश में आकर उन्होंने पत्र दे तो दिया; परन्तु क्षण-भर में अपनी भूल ज्ञात हो गई, उनका हृदय खेद और ग्लानि से भर गया। लज्जा से कटे जाते

थे—कैसी घोर नीचता है! कैसी अक्षम्य कायरता! प्रेमिका के पत्र को जिसका मूल्य प्राणों से अधिक होना चाहिए, प्राण-रक्षा का यन्त्र बनाना—इससे घृणित कौन-सी कायरता हो सकती है। यदि प्राण देकर भी रतन को पत्र वापस मिल सकता तो उन्हें उसे लेने में तनिक भी संकोच न होता; किन्तु यह वैसा ही कठिन था, जैसे मुख से निकली हुई बात या कमान से निकले हुए तीर का वापस लौटना!

(९)

उमा खेद और दुख की मूर्त्ति बनी हुई बैठी थी—खेद इस आकस्मिक घटना पर था; दुःख भण्डा फूट जाने का। बिहारी ने कमरे में प्रवेश किया। उसके मुख पर वह गाम्भीर्य था, जो क्रोध और घृणा की अन्तिम सीमा है। बिहारी ने उमा के सामने उसका प्रेम-पत्र फेंक दिया; किन्तु मुख से कुछ न कह सके। उमा पर वज्रपात-सा हुआ। उसके लिए वह पत्र वैसा ही था, जैसे अभियुक्त के लिए अदालत का फैसला। उमा हत-बुद्धि-सी मूर्तिवत् बैठी रही।

उमा की खामोशी ने बिहारी की ज़बान खोल दी—उमा, मुझे तुमसे ऐसी आशा न थी। मुझे स्वप्न में भी यह आशङ्का न थी कि तुम इतना नीचे गिर जाओगी। ऐसा छिछोरापन! मेरे विश्वास का यों मटियामेट!

उमा अब अधिक न सुन सकी। अपराधी मनुष्य साधु-चरित्र आदमी की कड़ी-से-कड़ी बात सुन सकता है; किन्तु उस मनुष्य

का साधारण आक्षेप भी असह्य हो जाता है, जिसके चरित्र के विषय में उसे स्वयं सन्देह हो। उमा को केवल सन्देह ही नहीं था, उसके पास प्रमाण भी था। फिर वह बिहारी की बातें कैसे सह लेती ? प्रतिघात की मात्रा प्रबल हो गई। उमा का अङ्ग-अङ्ग फड़कने लगा। उसकी दशा छेड़ी हुई सर्पिणी के समान हो गई। उमा ने बिहारी को सरोष नेत्रों से देखकर उत्तर दिया—लेकिन इसकी सारी जिम्मेदारी तुम्हारे ऊपर है। क्या तुमने प्रेम का स्वाँग भरकर मुझे जाल में नहीं फँसाया ? मेरी आशाओं का खून नहीं किया ? तुम्हें मुझसे नहीं मेरे धन से प्रेम था।

"यह सरासर झूठा आक्षेप है मेरा प्रेम सत्य था और मैं उस पर अब से घण्टे-भर पहले दृढ़ रहा हूँ ; लेकिन अब मेरी आँखों का परदा उठ गया।"

"झूठ नहीं बिलकुल सच है, तुमने मेरे साथ विश्वास-घात किया बाजारू औरतों के पीछे दौड़ते फिरे।"

बिहारी ने कृत्रिम क्रोध से कहा—उमा अब मैं ज्यादा सहन नहीं कर सकता। अपनी करतूतों पर पर्दा डालने के लिए, मुझ पर मिथ्या आक्षेप करती हो।

"यह बात झूठी नहीं है, मेरे पास इसका सबूत है"—यह कहकर उमा उठी और अपने शृंगार-गृह में चली गई। सन्दूक खोलकर एक पत्र निकाला। यह श्यामा का वही पत्र था, जिसे उसने बिहारी की जेब से निकाल लिया था। उमा ने पत्र लाकर बिहारी के सामने फेंक दिया। बिहारी ने पत्र उठाकर पढ़ा और

उमा की ओर आश्चर्य-पूर्ण नेत्रों से देखा। वे निरुत्तर हो गये, अधिक कुछ न कह सके। उमा उठकर बाहर चली गई। उसके नेत्रों में विजय-गर्व था।

उमा जीती अवश्य; किन्तु उसके हृदय में विजय का आह्लाद न था, पराजय की दारुण-वेदना थी। सजग आत्मा हृदय में चुटकियाँ ले रही थी। अधिकारों की रक्षा के लिए चरित्र का बलिदान! आज वह स्वयं अपनी दृष्टि में गिर गई। वह धन और वैभव की गोद में पली थी, प्रेम और स्नेह उसके जीवन का आधार था। आज वह प्रेम के लिए किसका मुँह ताके—पुरुष समाज का, जो आज उसे धूर्तों एवं कायरों से भरा दिखाई देता था? अब वह जीवित रहे, तो किसके बल पर? उसे अपना अस्तित्व शून्य एवं निरर्थक जान पड़ता था। उमा अभिमानिनी थी। जब वह अपने शृङ्गार-गृह में जाकर शीशे के सामने खड़ी होती, और अपनी सुन्दरता अवलोकन करती, तब उसके नेत्रों में गर्व का मद छा जाता, हृदय में विजय-कामना हिलोरें लेने लगतीं। आज उसने शीशे के सामने खड़े होकर अपने एक-एक अङ्ग को ध्यान से देखा; किन्तु आज वह आनन्द, वह उल्लास न प्राप्त हुआ। उसे अपने सौन्दर्य से भी घृणा हो गई।

(१०)

बिहारी का क्रोध अब बिलकुल शान्त हो गया था! वे वाटिक में बैठे हुए घटना-क्रम पर निष्पक्ष होकर विचार कर रहे थे। उमा के ये शब्द कि 'इसकी सारी जिम्मेदारी तुम्हारे ऊपर है' अभी तक

उनके कानों गूँज रहे थे। वे ज्यों-ज्यों विचार करते, उन्हें अपना ही दोष दिखाई देता। यदि मैं श्यामा के कृत्रिम प्रेम में न फँसता, तो आज यह दिन क्यों देखना पड़ता? यद्यपि मैंने स्वार्थ-वश उमा से विवाह किया था; किन्तु उमा मुझसे प्रेम करती थी, यदि वह मुझसे प्रेम न करती होती, तो रतन को छोड़कर मुझसे विवाह ही क्यों करती? मेरे हृदय में शनैः-शनैः ेम अंकुरित हुआ—हाँ, यह निरन्तर सहवास के कारण अवश्य था। हम दोनों एक दूसरे के साथ सुखी थे; परन्तु मैंने स्वयं अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारी। उमा के प्रेम की अवहेलना की। ऐसी दशा में मुझसे उसके मन का फिर जाना स्वाभाविक ही था। यह मानव-स्वभाव है, इसमें उमा का दोष नहीं? सारा उत्तर-दायित्व मुझ पर ही है। जब सारा दोष मेरा ही है, तब मुझे उमा से नाराज़ होने का कोई हक़ नहीं। अब क्या क ँ? उमा से मेल कर लेना चाहिए।

इस निश्चय के बाद बिहारी उठकर भीतर गये। ड्राइंग-रूम में दीवार पर लगी हुई घड़ी में डेढ़ बजा था। बिहारी ने सोचा—उमा सो रही होगी। वे शयनागार की ओर गये। धीरे से दरवाज़ा खोला और भीतर प्रवेश किया। मेज़ पर जलती हुई मोमबत्ती ऐसी जान पड़ती थी, मानों किसी क़ब्र पर जलता हुआ चिराग़ आँसू बहा रहा हो। उमा पलग पर पड़ी हुई थी। ऐसा जान पड़ता था, मानो कमरे में फैला हुआ प्रकाश उसके लावण्य का प्रकाश है। बिहारी धीरे-धीरे आगे बढ़े। वे झुके और उमा के

बन्द नेत्रों पर क्षमा और प्रेम का चिह्न अङ्कित कर दिया ; परन्तु सहसा वे चौंक पड़े और उमा के मुख की ओर ध्यान से देखने लगे। कलाई पर हाथ रक्खा, नब्ज का कहीं पता न था। हृदय पर हाथ रक्खा, गति स्थगित हो चुकी थी। चिराग बुझ चुका था, यात्रा समाप्त हो चुकी थी। उमा का निर्जीव शरीर मृत्यु-शय्या पर पड़ा था। फ़र्श पर एक ख़ाली शीशी पड़ी थी, जिस पर अँगरेजी अक्षरों में लिखा था—'विष'। बिहारी के मुख से एक चीख़ निकल गई। वे लास से लिपट गये। बिहारी के प्रेमाश्रु से भीगा हुआ उमा का आभाहीन मुख ऐसा जान पड़ता था, मानो अरुणोदय के समय ओस में नहाया हुआ कोमल पुष्प हो!